अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं और अब उसमें केवल 1974 वि० तक की कविताओं का संग्रह है । इसमें भी ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखी गई कुछ कविताएँ हैं । अन्य कविताओं में विनय, प्रकृति, प्रेम तथा सामाजिक भावनाएँ हैं । 'कानन कुसुम' में प्रसाद ने अनुभूति और अभिव्यक्ति की नई दिशाएँ खोजने का प्रयत्न किया है । इसके अनन्तर कथाकाव्यों का समय आया है । 'प्रेम पथिक' का ब्रजभाषा स्वरूप सबसे पहले 'इन्दु' (1919 ई०) में प्रकाशित हुआ था और 1970 वि० में कवि ने इसे खड़ी बोली में रूपांतरित किया । इनकी विज्ञप्ति में उन्होंने स्वयं कहा है कि ''यह काव्य ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था ।'' प्रेमपथिक में एक भावमूलक कथा है, जिसके माध्यम से आदर्श प्रेम की व्यंजना की गई है । 'करूणालय' की रचना गीतिनाट्य के आधार पर हुई है । इसका प्रथम प्रकाशन 'इन्दु' (1913 ई०) में हुआ । 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण में भी यह है । 1928 ई० में इसका पुस्तक रूप में स्वतन्त्र प्रकाशन हुआ । इसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा है । 'महाराणा की महत्त्व' 1914 ई० में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था । यह भी 'चित्राधार' में संकलित था, पर 1928 में इसका स्वतंत्र प्रकाशन हुआ । इसमें महाराणा प्रताप की कथा है ।

'झरना' का प्रथम प्रकाशन 1918 ई० में हुआ था । आगामी संस्करणों में कुछ परिवर्तन किए गए । इसकी अधिकांश कविताएँ 1914-1917 के बीच लिखी गई, यद्यपि कुछ रचनाएँ बाद की भी प्रतीत होती हैं । 'झरना' में प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रथम बार स्पष्ट प्रकाशन हुआ है और इसमें आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों को अधिक मुखर रूप में देखा जा सकता है । इसमें छायावाद युग का प्रतिष्ठापन माना जाता है । 'आँसू' एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य है, जिसमें कवि की प्रेमानुभूति व्यंजित है । इसका मूलस्वर विषाद का है, पर अंतिम पंक्तियों में आशा-विश्वास के स्वर हैं । 'लहर' में प्रसाद की सर्वोत्तम कविताएँ संकलित हैं । इसमें कवि की प्रौढ़ रचनाएँ हैं । इसका प्रकाशन 1933 ई० में हुआ । 'कामायनी' प्रसाद का प्रबन्ध काव्य है । इसका प्रथम संस्करण 1936 ई० में प्रकाशित हुआ था । कवि का गौरव इस महाकाव्य की रचना से बहुत बढ़ गया । इसमें आदिमानव मनु की कथा है पर कवि ने अपने युग के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है ।

प्रसाद के नाटकों की संख्या लगभग बारह है । 'सज्जन' का प्रकाशन 'इन्दु' में 1910-11 में हुआ था । 'कल्याणी' परिणय नागरी प्रचारिणी पत्रिका में और 'राज्यश्री' 1915 में । 'राज्यश्री' के प्रथम और द्वितीय संस्करण में पर्याप्त अन्तर है । अन्य नाटकों का क्रम इस प्रकार है - 'विशाख' (1921), 'कामना' (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), 'स्कन्दगुप्त' (1928), 'एक घूँट' (1930), 'चन्द्रगुप्त' (1931), 'ध्रुवस्वामिनी' (1933) । 'छाया' (1912), 'प्रतिध्वनि' (1926), 'आकाशद्वीप' (1929), आँधी (1931), 'इन्द्रजाल' (1934), 'इरावती' - अपूर्ण(1940), उनके उपन्यास हैं और 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (1939) उनका निबंध संग्रह है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार हैं । प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि वे एक विकासमान व्यक्तित्व के कलाकार हैं । उनकी आरंभिक रचनाएँ शिथिल हैं और उनमें परम्परा की छाया भी दिखाई देती है, पर प्रसाद ने अनुभूति और शिल्प दोनों ही दिशाओं में सतत् जागरूक दृष्टि का परिचय दिया और इसी कारण वे 'चित्राधार' जैसी साधारण कृतियों की आरंभिक भूमिका से उठकर 'कामायनी' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं तक जा सके । प्रसाद मुख्य तथा अनुभूति, गहन अनुभूति के रचनाकार हैं । उनके अनुभव की सीमाएँ हैं और इसी कारण यथार्थवादी लेखकों जैसी व्यापकता उनमें प्राप्त नहीं होती । पर अध्ययन, मनन के द्वारा उन्होंने इतिहास की दृष्टि प्राप्त की थी और 'कामायनी' में उनका युगबोध सहज ही देखा जा सकता है । प्रसाद का समस्त साहित्य मानवीय और सांस्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है । प्रेम, सौन्दर्य आदि की अनुभूतियाँ उनकी मानवीयता

से सम्बन्ध रखती हैं । नाटकों में सांस्कृतिक दृष्टि अधिक स्पष्ट है । कविताओं में प्रसाद की आंतरिक अनुभूतियों का प्रकाशन अधिक स्पष्ट है । 'आँसू' तो उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिफलन ही बन गया है । नाटकों में प्रसाद ने एक सांस्कृतिक पुनरूत्थान का प्रयास किया है । इतिहास के माध्यम से वे भारतीय अतीत की सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देना चाहते हैं । भारतीय इतिहास, दर्शन और संस्कृति के प्रति कवि की रागात्मकता सर्वत्र देखी जा सकती है । अपनी भावनामयता और अनुभूतिप्रवणता के कारण प्रसाद की मूलचेतना कवि से सम्बद्ध है, पर उसमें मानवीयता और सांस्कृतिकता दृष्टि का योग भी है ।

प्रसाद छायावाद युग के कृति हैं और इस साहित्य आन्दोलन की जितनी अधिक प्रवृत्तियाँ उनके साहित्य में मिलती हैं, उतनी अन्य किसी में नहीं । अनुभूति, सौन्दर्य चेतना, कल्पना तत्त्व, सांस्कृतिक भावना, आदर्शवादी दृष्टि, आत्मप्रकाशन आदि के जो गुण छायावादी काव्य में प्रमुखता से प्राप्त हैं उनका सर्वाधिक प्रतिफलन प्रसाद से मिलता है । हम कह सकते हैं कि 'कामायनी' जैसी कृतियों में छायावाद अपने चरम बिन्दु पर व्यक्त हुआ है उसमें उसका सर्वोत्तम प्रतिफलन है । 'झरना' में छायावाद की जो प्रवृत्तियाँ संकेत रूप में दिखाई देती हैं, वे प्रसाद के महाकाव्य में पूर्ण अभिव्यक्ति पा सकी हैं ।

शिल्प की दिशा में प्रसाद का व्यक्तित्व उनकी मौलिकता का परिचायक है । प्रांजल प्रसादगुण सम्पन्न उनकी भाषा, कविता, नाटक, उपन्यास सभी में एकरूप हैं और कहीं-कहीं भाव परिचालित होने के कारण गद्य में भी वह कवित्वपूर्ण हो जाती है । भाषा के सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण प्रसाद को अभिव्यंजना में कठिनाई का अनुभव नहीं होता है । शब्दों में लाक्षणिकता का गुण उनकी प्रमुख विशेषता है । शब्द की लक्षण और व्यंजना शक्तियों का उनमें प्राधान्य है । प्रसाद की प्रतीक-योजना भी पर्याप्त प्रसिद्ध है । वास्तव में वे प्रायः संकेत और ध्वनि से काम लेते हैं और जब किसी वस्तु का वर्णन करना होता है तो वे उसका चित्र ही प्रस्तुत कर देते हैं । 'कामायनी' में मनोविकारों का मूर्तिकरण किया गया है । छन्द की दिशा में प्रसाद ने विविध प्रयोग किए । आरंभिक ब्रजभाषा रचनाओं की सवैया, कवित्त परम्परा का कवि ने शीघ्र परित्याग कर दिया । 'आँसू' में चौदह मात्राओं का आनन्द छन्द है । 'कामायनी' का प्रमुख छन्द नाटक है । प्रसाद ने अतुकान्त कविताएँ भी लिखीं । जयशंकर प्रसाद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि उन्होंने अपनी अनुभूति और चिन्तन को विभिन्न माध्यम से प्रस्तुत किया है । नाटकों में उनकी इतिहास और संस्कृति की दृष्टि प्रमुख है । काव्य में आन्तरिक अनुभूत का प्रकाशन करते हैं । कहानियों में गीतिमयता है - पात्रों की द्वन्द्वात्मक स्थिति के कारण । उपन्यासों की भूमिका अधिक यथार्थवादी है । प्रसाद का निधन अपेक्षाकृत जल्दी हो गया और उस समय हुआ जबकि प्रौढ़ता के बिन्दु पर पहुँच चुके थे । यदि वे कुछ काल तक और जीवित रहते तो अन्य प्रौढ़ कृतियाँ भी हमारे समक्ष आतीं । अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' इसका प्रमाण है ।

प्रसाद ने रोमांटिकधर्मी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक नाटकों का सृजन कर हिन्दी नाटक का नया विकास किया । नाटकों के ऐतिहासिक कथानक के लिए उन्होंने भारत के सुदूर अतीत के संधिकालिक इतिहास को ही चुना । इसका एक कारण था कि वे अपने नाटकों के माध्यम से स्वतंत्रता-संघर्षरत अपने समाज तथा व्यक्ति के जीवन को उसके अंतर्बाह्य सभी रूपों में स्पन्दित करना चाहते थे एवं मूल्यवता का दिग्दर्शन करना चाहते थे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे नाट्य-वस्तु को अपनी कल्पना से ऐसे नए-नए घुमाव देते थे जिससे मानवीय संबंधों की अनेकानेक संवेदनाएँ प्रकट होती हैं । जिन जीवन प्रसंगों के प्रति इतिहास मौन रहता है उन्हें वे अपनी कल्पना से रूप देते थे । इस प्रयत्न में अनेक नाटकों के कथानक जटिल तो हो गए हैं, किन्तु कथानक को रचते समय इतिहास और कल्पना का सुंदर

समन्वय करके वे जीवन के बहुआयामी चित्र व्यक्त करते हैं । इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी व्यक्ति-वैचित्र्य की नई विशेषता अनायास ही उभर आती है । प्रसाद के इस कथानक, रचना-शिल्प और चरित्र विधान से आगे के नाटककार बहुत प्रभावित हुए और उनकी नाट्यशैली के अनुकरण पर ही नाटक लिखने में प्रवृत्त हुए । इसी अर्थ में प्रसाद युग के नाटकों की अपनी नई पहचान बनती है ।

नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने तीन प्रख्यात नाटकों 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' की रचना क्रमशः सन् 1921 से 1930 ई० के मध्य की । तीनों नाटकों के कथानक ऐतिहासिक वृत्तों एवं तथ्यों पर आधारित हैं । तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हिन्दी दर्शन कराते हुए स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे यशस्वी वीरों के माध्यम से राष्ट्र के स्वाधीनता प्राप्त करने की ओर प्रेरित किया गया है ।

'अजातशत्रु' की कथावस्तु अत्यन्त जटिल है । मगध कोशल और वत्स राज्यों की घरेलू अशान्ति एवं मनोमालिन्य के कारण कथानक की जटिलता बढ़ गई है । इसके अतिरिक्त प्रसंग के अनुसार काशी, शाक्य एवं लिच्छवी राज्यों के कारण मतभेद और वैमनस्य की सृष्टि हुई । इसकी कथा-वस्तु द्वन्द्व प्रधान है । यह द्वन्द्व आन्तरिक और बाह्य दोनों हैं । अजातशत्रु प्रस्तुत नाटक का प्रधान पात्र है । किन्तु उसमें प्रधान पात्र कहलाने वाले गुणों का सर्वथा अभाव है । उसमें सोचने-समझने की शक्ति लुप्तप्राय है । वह छलना और देवदत्त के हाथ की कठपुतली मात्र है । वासवी के सौम्य व्यवहार से यह द्रवित हो जाता है, किन्तु उसका न तो अपना विवेक है, न सशक्त व्यक्तित्व ।

इस नाटक में विरोधी पात्रों की अवतारणा की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है । वासवी और छलना गौतम एवं देवदत्त, बिम्बसार एवं अजातशत्रु, प्रसेनजित और विरूद्धक परस्पर विरोधी युग्म हैं । इनका पारस्परिक वैमनस्य ऐतिहासिक तथ्य है । इन्हीं विरोधी के चतुर्दिक इस नाटक की कथावस्तु की संरचना की गई है । "मागधी श्यामा और आम्रपाली का एकीकरण करके प्रसाद ने अद्‌भुत चरित्र की सृष्टि की है । कला की दृष्टि से जीवन दर्शन की दृष्टि से ऐसा चरित्र साहित्य मात्र में अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत है ।"

अजातशत्रु नाटक की भाषा कठिन है । कठिनता का कारण है - संस्कृत शब्दावली का प्रचुर प्रयोग । सब नाटकों की भाषा से बोझिल है । अत्यधिक दार्शनिक विचारों के प्रदर्शन से भाषा में जटिलता आ गई है । इस नाटक में बिम्बिसार का चरित्र एक दार्शनिक का है । गौतम के चरित्र में व्यावहारिक जीवन-दर्शन है जिसमें करूणा का समावेश है । बिम्बिसार नाटक के प्रारंभ में कहते हैं, "आह ! जीवन की क्षणभंगुरता को देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है । आकश के नीचे पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे ये स्पष्ट से लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है ।"

प्रसाद के नाटक अधिक साहित्यिक हैं । इनमें अभिनयेता का सर्वथा अभाव है । अजातशत्रु नाटक में समान, स्थान एवं व्यापार की अन्विति का सर्वथा अभाव है और इस दोष की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

'स्कंदगुप्त' प्रसाद का दूसरा ऐतिहासिक नाटक है, इसमें तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति एवं समाज का व्यापक परिचय मिलता है । इस नाटक में गुप्त साम्राज्य का प्राचीन वैभव बिखरा हुआ है । सभी गुप्त सम्राट वैष्णव थे; वे इतिहास में परम चट्टारक, परम वैष्णव आदि उपाधियों से विभूषित थे । कथावस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में तीन स्वतंत्र समस्याएँ हैं, स्कंदगुप्त के समक्ष विदेशी आक्रमण, गृह-कलह और प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व । प्रथम दो समस्याएँ ऐतिहासिक हैं, किन्तु तीसरी समस्या कल्पना-प्रसूत । नाटककारों का यह अभिमत है कि बिना प्रेम संबंध (रोमांस)

के कथानक सजीव नहीं हो पाता । इसलिए नाटककार ने यह आवश्यक समझा कि स्कंदगुप्त के जीवन में भी इसकी चर्चा की जाए । नाटक की तीसरी समस्या प्रेम-संबंध की है । स्कंदगुप्त को केन्द्रबिन्दु मानकर विजया और देवसेना की उसके प्रति प्रेम की कल्पना करते हुए उसकी वीरता चरम सीमा पर दिखाई देती है । उसी स्थिति में विजया स्कंदगुप्त के प्रति आकृष्ट होती है ।

प्रसाद के नाटकों में पहला दृश्य प्राय: परिस्थितियों एवं पात्रों का परिचायक ही होता है । यह प्रस्तावना के रूप में है । 'स्कंदगुप्त' की पहली उक्ति है - ''अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है । अपने को निर्वाचक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है । 'उत्सवों में परिचालक और अस्त्रों में ढाल से भी अधि कार लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं ? ऊँट, जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के सैनिक है ।'' स्कंदगुप्त तो मानो राष्ट्रीयता का प्रतीक है, अप्रस्तुत के द्वारा हमारी प्रस्तुत भावना का जागरूक वैतालिक है । स्कंदगुप्त सम्राट न बनकर एक सैनिक बनने की कामना करता है । देश पर बलिदान होने वालों का यह उज्ज्वल आदर्श है ।

प्रसाद की नाट्यकला में प्राच्य एवं पाश्चात्य नाट्यकलाओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण है । पूर्व के नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, बीच-बीच में पद्यों का परित्याग करते हुए उन्होंने वहाँ पर परिश्रम के शील-वैचित्र्य, तीन अंकों में विभाजन एवं एक अंक का कई दृश्यों में विभाजन की पद्धति अपनाई है । पट-परिवर्तन, स्थान-परिवर्तन का सूचक है । यह पद्धति अंग्रेजी के नाटकों से अपनाई गई है । प्रसाद के नाटकों में पश्चिम के शील-वैचित्र्य के साथ-साथ पूर्व का रस-विधान भी पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुआ है ।''

''प्रसाद का आदर्शवाद निराशा की भित्ति पर शान्ति के क्रोड में निहित है । महात्माओं के दर्शन मात्र भी एक वचन मात्र में है । संशोधन की शक्ति रहती है । चाहे जैसे हो, भलाई और बुराई के द्वन्द्व में बुराई को दूर होना ही पड़ता है । जो चरित्र शोधातीत होते हैं, उनकी अपमृत्यु दिखाई जाती है । सत्यशील, देवदत्त, कश्यप, (विजया) आदि इसी प्रकार के चरित्र हैं ।'' प्रसाद के आदर्शवाद का यथार्थ रूप पारमर्थिक है । विश्व प्रेम और करूणा इनका सूत्र है । जैसा कि 'राज्यश्री' के भरत-वाक्य से स्पष्ट है ।

प्रसाद के नाटकों में सामाजिक एवं जातीय आदर्श भी उपलब्ध है । 'नागयज्ञ' में वर्णित जातीयता 'स्कंदगुप्त' में पूर्ण राष्ट्रीयता का रूप ग्रहण कर लेती है । जहाँ तक नाटक के नारी-पात्रों का प्रश्न है, विजया और देवसेना का स्थान महत्त्वपूर्ण है । विजया मालव की श्रेष्ठि-कन्या है । वह अपने वर्ण का प्रतिनिधित्व श्रम से अर्पित धन की रक्षा करती हुई, वणिक वृत्ति को प्रदर्शित करती हुई पाठकों के समक्ष आती है । उसमें सुख-सेना मालवा राजकुमारी है । वह संगीत की साधना में लीन होती है । वह संगीत की साधना में ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र व्याप्त देखती है । वस्तुत: संगीत-प्रेम उसके जीवन का दर्शन है । मालव-नरेश की सहायता के लिए आए हुए स्कंदगुप्त विजया के प्रति आकृष्ट हो जाता है । फलत: देवसेना के जीवन में प्रणय-कथा अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । उसके चरित्र की विशेषता है - देश-प्रेमिक और समाज-सेविका की । वह अनाथ बच्चों की सेवा करती है, जिससे जनजीवन प्रभावित है । उपर्युक्त नारी पात्रों का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'स्कंदगुप्त' को प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक मानते हैं । 'चन्द्रगुप्त' नाटक के कथानक के अन्तर्गत तीन प्रमुख घटनाएँ हैं । सिकन्दर का भारत पर आक्रमण, नन्दवंश का उन्मूलक और सेल्यूकस की पराजय । इन घटनाओं के मध्य पच्चीस वर्ष का समय व्यतीत हुआ ।

''सिकन्दर 327 ई० पूर्व भारत आया था और लगभग डेढ़ वर्ष यहीं रहकर 325 ई० पूर्व लौटा था । नाटककार

प्रसाद के अनुमान के अनुसार 329 ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था । सेल्यूकस ने भारत पर 306 ई० पूर्व में आक्रमण किया और संभवत: 303 ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त से उसकी संधि हुई । अन्य इतिहासकारों का यह मत है कि यह समय 305 ई० पूर्व है ।''

इस लंबी अवधि के मध्य जो-जो घटनाएँ घटीं, उनका पारस्परिक सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है । नाटककार ने उपर्युक्त तीनों घटनाओं को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए चन्द्रगुप्त के कार्यकलापों का निर्माण किया । इस नाटक में समय की अन्विति नहीं है । 'स्कंदगुप्त' की ही भाँति 'चन्द्रगुप्त' नाटक भी भारतीय संस्कृति, नाट्यकला और राष्ट्रीय एवं काव्य के अनेक गुणों से युक्त है । प्रसाद की यह प्रौढ़ रचना है । यह नाटक चार अंकों का है । इससे काल दोष की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

यद्यपि इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है, किन्तु चाणक्य का चरित्र प्रधान पात्र के रूप में उभरता हुआ दिखाई देता है । चाणक्य की ऐतिहासिक स्थिति जो भी रही हो, किन्तु प्रस्तुत नाटक में वह हमारे सम्मुख परिस्थितिवश ही राजनीति में सक्रिय भाग लेता हुआ सामने आता है । प्रारंभ में उसकी आन्तरिक भावना का परिचय मिलता है, जो आपने चन्द्रगुप्त के समक्ष व्यक्त किया है : ''मैं ब्राह्मण हूँ । मेरा साम्राज्य करूणा और प्रेम का था । बौद्धिक विनोद कर्म था । संतोष धन था । उस अपने ब्राह्मण जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ गया । मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है ।''

चाणक्य में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अनुमान करने की अपूर्व क्षमता थी । उसमें व्यक्ति को परखने की भी सूझबूझ थी । मगधवासी चन्द्रगुप्त और मालव राजकुमार सिंहरण तक्षशिला के स्नातक हैं और चाणक्य के शिष्य भी । तीनों के वार्तालाप के बीच पश्चिमोत्तर सीमा की राजनीति सामने आती है । उस राजनीतिक चर्चा के बीच ही अकस्मात् 'आम्भीक' और 'अलका' आ जाते हैं । चन्द्रगुप्त को देखते ही उसने जान लिया कि इसमें आदर्श शासक होने की योग्यता है । चाणक्य चन्द्रगुप्त और सिंहरण से तक्षशिला का परित्याग करने को कहते हैं । चन्द्रगुप्त और चाणक्य मगध लौट जाते हैं, किन्तु सिंहरण अलका के अनुरोध पर ही तक्षशिला छोड़ने के लिए तैयार होता है ।

नाटक के प्रमुख पात्रों में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण और पर्वतेश्वर है । चन्द्रगुप्त सिंहरण का सहयोग पाकर अपने विवेक एवं संगठन शक्ति से मालव और क्षुद्रक को संगठित कर सिकन्दर को हराकर उसके विश्वविजेता होने का सारा दर्प चूर-चूर कर देता है । वह केवल विदेशियों को पराजित कर देश से बाहर कर देना नहीं चाहता था, बल्कि समस्त भारत को एक शासन सूत्र में आबद्ध कर एक सुयोग्य शासक का अभिषेक करते हुए वह देश को बाह्य आक्रमणों एवं गृह-कलह से मुक्त कर देना भी चाहता था ।

चाणक्य एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व है । वह दूरदर्शी है । चाणक्य से प्रभावित होकर सिकन्दर कहता है - ''मैं तलवार खींचे आया था, हृदय देकर जाता हूँ ।''

पर्वतेश्वर चाणक्य से कहता है, ''मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को सम्पन्न नहीं कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया ।'' राक्षस भी चाणक्य की सराहना करता है, ''चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है । उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है ।

चन्द्रगुप्त का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है । उसमें निर्भीकता, वीरता, उदारता, कृतज्ञता, साहस और धैर्य कूट-कूटकर भरा हुआ है । सामान्य स्थिति से उठकर, महत्त्वपूर्ण पद तक के लिए जिन-जिन गुणों की आवश्यकता

है, वे सब देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार उसमें पाए जाते हैं । तक्षशिला में शस्त्र और शास्त्र दोनों में निपुणता प्राप्त कर वह नन्द के कारागार में बन्दी चाणक्य को मुक्त करने के लिए स्वयं जाता है । राक्षस और वररूचि की उपस्थिति में प्रहरियों को मारकर वह उसे छुड़ा लेता है । मालव-युद्ध में वह सिकन्दर का डटकर सामना करता है और सेल्यूकस को भी पराजित कर देता है ।

प्रसादजी ने पर्वतेश्वर का चरित्र-चित्रण बड़े सामान्य रूप से प्रस्तुत किया है । वह युद्ध में उत्साह और वीरता प्रदर्शित करता है, किन्तु वीर चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता लेने से इनकार कर देता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त वृषल है । चाणक्य उसकी मानसिक दुर्बलता पर आघात करता है ''मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भाँति परिचित रहता है, परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए । ''वीरता से लड़ते हुए हार जाने पर पर्वतेश्वर सिकन्दर से प्राण की भिक्षा माँगते हुए कहता है, ''वैसा व्यवहार जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है ।''

सिंहरण के हृदय में राष्ट्रहीनता कूट-कूटकर भरी हुई है । उसके लिए मालव और गान्धार एक समान है । मित्र के रूप में उसका व्यक्तित्व चन्द्रगुप्त के साथ एकरस हो जाता है । वह सच्चा सहयोगी सिद्ध होता है । चाणक्य सिंहरण के मन में भारत की एक्य भावना को प्रस्फुटित करता हुआ कहता है, ''तुम मानव हो और यह मगध । मालव और मगध को भुलाकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा ।''

'चन्द्रगुप्त' नाटक में नारी-पात्रों में अलका, कल्याणी और कार्नोलिया मुख्य है । अलका का हृदय देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत है । उसका त्याग सात्विक है । राष्ट्रप्रेम ही उसके कार्यों का संचालक है । वह गाती है :

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती ।

देश-प्रेम से उल्लासित होकर वह विद्रोह का शंखनाद बजाती है । सिंहरण के प्रति वह आकृष्ट है, उसके स्वदेश-प्रेम के कारण ।

कल्याणी मगध की राजकुमारी है । नाटक में उसके हृदय की तीन प्रमुख भावनाएँ अभिलषित है, चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग, अपने पिता के प्रति अटूट स्नेह और पर्वतेश्वर के प्रति प्रतिशोध की भावना । कल्याणी ने वरण किया था केवल एक वीर पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त । कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की वीरता के प्रति आकृष्ट है । उसे भारत से जन्म-भूमि के समान स्नेह होता जा रहा है । उसको भारतीय संस्कृति और भरत-भूमि के प्रति मोह है । यह चन्द्रगुप्त के समक्ष अपने अंतरंग भावनाओं को व्यक्त करती है, ''यह सपनों का देश, महात्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि है, भारत मानवता की जन्मभूमि है ।'' इस प्रकार कार्नेलिया मन-ही-मन भारत के भावी सम्राट से प्रेम करने लगी है । प्रसाद के इस नाटक में नारियाँ भी अपने राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह करती हैं ।

जयशंकर प्रसाद इतिहासवेत्ता थे । उनके समान पुरातन ऐतिहासिक दृष्टि लेकर लिखा जा रहा था । अंग्रेजों के विरूद्ध राष्ट्रीय कांग्रेस का आंदोलन प्रारंभ हो चुका था, स्वाधीनता प्राप्ति के लिए भारतीय कृतसंकल्प थे । चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण और अलका इन दिनों देश के सेवाव्रती लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

हिन्दी नाटकों को नया आयाम प्रदान करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को ही है ।

पहली बार प्रसाद के प्रयास से हिन्दी नाटक भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों, राष्ट्रीय भावनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा आधुनिक समस्याओं से युक्त हुए ।

इन सबके साथ रोमांटिक दृष्टिकोण तथा असाधारण भावुकता एवं रंगीन कल्पना से प्रभावशाली बनाकर नाटकों की रचना की गई ।

प्रसाद ने आदर्श पात्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व देकर सिद्ध किया कि पात्र मानव भी हो सकते हैं और दानव भी ।

बाह्य संघर्षों के साथ-साथ पात्रों के मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत कर उनको मानवीय रूप दिया ।

प्रथम बार नारी चरित्रों की इतनी सुंदर, करूणामयी, कर्त्तव्यनिष्ठ अवतारणा हुई ।

उन्होंने साधारण सस्ते गीतों के स्थान पर उत्कृष्ट काव्यात्मक, रसपूर्ण गीतों को स्थान दिया जिनसे उच्च कोटि की शास्त्रीय राग-रागिनियों की स्थापना हुई ।

प्रसाद ने सात्विक मनोरंजन के साथ पहली बार हिन्दी नाटकों को हास्य व्यंग्य तथा ऊपरी भाव-प्रदर्शन के स्थान पर गहरी अंतर्वेदना, भावों के उतार-चढ़ाव और मानवीय संवेदना से युक्त किया ।

अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के अधिकांश नाटकों पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है । घटना विस्तार दृश्यों का बाहुल्य लंबे दार्शनिक संवाद, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत कथनों की भरमार, काव्यात्मकता और गीतों की अधिकता, जटिल दृश्य-विधान, वर्जित दृश्यों की अवतारणा आदि के कारण उनके नाटक अभिनय में दुरूह हो गए हैं । इनके लिए विकसित एवं समृद्ध मंच उपेक्षित है ।

वैसे रंगमंच के अनुकूल गुण भी इनके नाटकों में मिलते हैं । जैसे संवादों में निहित नाटकीय तत्त्व । इनके अंकों के आरंभ और अंत विशेष आकर्षक और रोचक हैं । पटाक्षेप संबंधी निर्देश तथा लघु अभिनय संकेत भी प्रायः प्रसाद के नाटकों में मिलते हैं ।

19.4 अभ्यास के प्रश्न

1. जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए ।
2. प्रसाद के नाट्य साहित्य का परिचय दीजिए ।
3. **टिप्पणी लिखिए :**
   - (क) प्रसाद के काव्य
   - (ख) प्रसाद के नाटक
   - (ग) प्रसाद के कथा संग्रह
   - (घ) प्रसाद के निबंध

ध्रुवस्वामिनी : कथानक, चरित्र देशकाल

पाठ संरचना

20.0 उद्देश्य
20.1 परिचय
20.2 कथानक
20.3 चरित्र-चित्रण
20.4 देशकाल एवं वातावरण
20.5 अभ्यास के प्रश्न

20.0 उद्देश्य

प्रसाद नाट्यालोचना के सामान्यतः सर्वस्वीकृत पक्षों में एक पक्ष यह भी है कि प्रसाद नाटक, कथानक, चरित्र एवं देशकाल की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । इस इकाई का उद्देश्य, कथानक, चरित्र चित्रण और देशकाल की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी के मूल्यांकन से पाठकों को परिचित कराया जाए ।

20.1 परिचय

किसी भी नाटक को चरित्रप्रधान कहने का अर्थ होता है, पात्र में सजीवता, प्राणवत्ता, बहुरूपता, स्वतंत्र व्यक्तित्व, मनोवैज्ञानिक चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व; घटनाओं के आधार पर क्रियाशीलता का चित्रण । नाटक में चरित्र प्रधान है या कथानक इसकी पहचान कार्य व्यापारों की अनेक संभाव्य दिशाओं में भी निहित है । प्रसाद रोमांटिक चेतना के रचनाकार थे, इसके उनके नाटकों के कथानक और पात्रों के जीवन संबंधों में देखा जा सकता है । फास्टर ने लिखा है - नियमतः यदि किसी लेखक की चेतना रोमांटिक है तो वह मानवीय संबंधों को सुन्दर रूप में ही देखेगा । उसके पात्र एकदूसरे से घृणा कर सकते हैं या एक दूसरे के साथ सुख का अनुभव नहीं कर सकते हैं । लेकिन वे उच्चता या सौभाग्यता की ही सृष्टि करेंगे - उनके अन्य दोष कुछ भी हो, वे कभी कुत्सित नहीं होंगे ।' प्रसाद के कथानक और पात्रों में आपसी द्वेष है, संघर्ष है, फिर भी उनके आपसी संबंधों से माधुर्य की ही सृष्टि होती है ।

20.2 कथानक

कथानक के स्वरूप भेद आदि को जान लेने के बाद उनके आधार पर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के कथानक की समीक्षा की जा सकती है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के कथानक के गठन के मुख्य चार अंग स्वीकार किए जा सकते हैं - 1. कथासूत्र, 2. मुख्य कथानक, 3. सह कथानक और 4. प्रासंगिक कथानक ।

1. **कथासूत्र** - 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक नायिका प्रधान कथानक वाला है । नाटककार 'ध्रुवस्वामिनी' की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आदि सभी प्रकार की मुक्ति कहना चाहता है । वह जीवन-समाज में इच्छा के विरूद्ध किसी अयाचित पुरुष के पल्ले विवाह के नाम पर बाँध दी जानेवाली नारी की पीड़ा, अयाचित और पीड़क पुरुष से मुक्त होने की बात को ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से शासन और धर्म की दृष्टि से भी संगत और उचित बताना चाहता है । मुख्य रूप से इसी तथ्य का नाटक का आधारभूत कथा-सूत्र कहा जा सकता है । इसके साथ-साथ गुप्त सम्राट के उत्तराधिकारी के रूप में अधिकृत और घोषित बेटे कुमार चन्द्रगुप्त की कथा व्यथा भी अपने आप जुड़ जाती है । वह इसलिए कि एक तो ध्रुवस्वामिनी उससे प्रेम करती है, दूसरे जानती है कि सम्राट समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी वही बननेवाला है; अत: उसी के साथ ही उसका विवाह होने जा रहा है । कुछ समय के लिए ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों को एक-दूसरे से विलगाव कष्ट झेलना पड़ता है । इसी सब को मुख्य रूप से नाटक के कथानक का कथा सूत्र स्वीकार किया जा सकता है । सम्राट की मृत्यु के बाद और चन्द्रगुप्त के शासक बनने तक के बीचवाले समय में मगध साम्राज्य में क्या घटित हुआ, किसी प्रकार आमात्य शिखर स्वामी के सहयोग में दुवृत्त रामगुप्त राजनीतिक षड्यंत्र करके अपनी राज्यलिप्सा करने की चालें चलता रहा । इन सभी को एक कथासूत्र में पिरोकर नाटककार जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रस्तुत किया है ।

2. **मुख्य कथानक** - 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में नामकरण के अनुरूप ही नायिका ध्रुवस्वामिनी से सम्बन्धित घटनाक्रम इसका मुख्य या आधिकारिक कथानक है । राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार हो अपने प्रेमी के महादेवी के अधिकारों से वंचित होकर भी भारतीय नारी की उदात्त परम्पराओं का पालन करते हुए ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को ही अपना पति सर्वस्व मानकर जीवन जीना चाहती है । पर उससे उसे मिलना है-सन्देह, अविश्वास और अपमान । इसमें उसका मन पीड़ित हो उठता है । वह अपनी मुक्ति के लिए छटपटाने लगती है । पर रामगुप्त की घृणित राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार होकर उसे शकराज के शिविर में उसकी विलास-वासना और प्रतिकार की भावना शान्त करने के लिए जाने को बाध्य और विवश होना पड़ता है । गुप्तवंश में आने से पहले कभी वह शकराज की मंगेतर रही होगी, पर शकराज उसे पा न सका । पानेवाला रामगुप्त उसे विश्वास और सम्मान न दे सका । इस प्रकार दो पुरुषों के राजनीतिक प्रतिशोध की चक्की में बेचारी ध्रुवस्वामिनी को पिसना पड़ता है । अन्त में चन्द्रगुप्त, सामन्त कुमारों, मन्दाकिनी आदि की सहायता से ही ध्रुवस्वामिनी को सभी प्रकार की शारीरिक-मानसिक यातनाओं से मुक्ति मिल पाती है ।

विकासक्रम की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के कथानक की अन्य रचनाओं के कथानक के समान ही मुख्यत: पाँच अवस्थाएँ स्वीकार की जा सकती हैं - 1. आरंभ, 2. विकास, 3. संघर्ष, 4. चरमावस्था और 5. परिणाम या उपसंहार ।

अवस्थाओं के इस क्रम के अन्तर्गत कथानक का 'आरंभ' नायिका ध्रुवस्वामिनी की इस मानसिक व्यथा से होता है कि पति के रूप में प्राप्त रामगुप्त के आज तक कभी उससे बात तक नहीं पूछी । उलटे उसके चन्द्रगुप्त से प्रेम की बात को लेकर, उसके चरित्र पर संदेह कर, उसे बन्दिनी जैसा जीवन व्यतीत करने को विवश कर रखा है । उसकी व्यथा का एक कारण यह भी है कि रामगुप्त ने उसी के समान कुमार चन्द्रगुप्त पर भी सभी प्रकार के प्रतिबन्ध लगा रखे हैं । उसकी बात को पूछने पर भी कोई उत्तर नहीं देता । वह कह उठती - 'यह असह्य है । इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? जिधर देखो कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे.....।''

इस प्रकार कथानक का आरंभ बड़ा ही मनोवैज्ञानिक और सजीव बन पड़ा है ।

ध्रुवस्वामिनी को जब पता चलता है कि सन्धि शर्त के मुताबिक मुझे शक-शिविर जाना है तो कथानक की दूसरी अवस्था का विकास आरंभ होता है । रामगुप्त का पहली बार ध्रुवस्वामिनी के पास अपने हिजड़े, बौने, बहरे, गूंगे, कुबड़े साथियों के साथ आना, उनकी ऊटपटांग हरकतें और ध्रुवस्वामिनी की फटकार, उसके बाद योजनाबद्ध रूप से अमात्य शिरस्वामी द्वारा भी वहाँ आकर, ध्रुवस्वामिनी के सामने ही शकराज की शर्तों की चर्चा करना और ध्रुवस्वामिनी पर शकर शिविर में जाने के लिए दबाव डालना, ध्रुवस्वामिनी द्वारा कटार निकालकर आत्महत्या करने की चेष्टा और हत्या ! हत्या ! कहते हुए चिल्लाकर रामगुप्त का भागना और चन्द्रगुप्त का प्रवेश आदि घटनाएँ कथानक के विकास की दूसरी अवस्था की सूचक हैं ।

इसके साथ ही संघर्ष की तीसरी अवस्था भी आरंभ हो जाती है । कुल समान, स्त्रीत्व, पत्नीत्व, पतीत्व आदि का वास्ता देकर ध्रुवस्वामिनी द्वारा रामगुप्त से शक-शिविर में न भेजने की प्रार्थना, बाद में चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी बनकर भी ध्रुवस्वामिनी का शक शिविर में सामन्त कुमारों के साथ जाकर शकराज की हत्या तक जो घटनाक्रम चलता रहता है, वह सब नाटकीय कथानक की संघर्ष नामक अवस्था का ही सूचक है । इसके बाद कथानक की चौथी 'चरमावस्था' का आरंभ उस समय सामने आता है, जब ध्रुवस्वामिनी अपने को रामगुप्त के बन्धन से मुक्त मान मन्दाकिनी और राजपुरोहित के सामने महादेवी, रामगुप्त की पत्नी आदि होने से इनकार कर देती है । चरमावस्था की चरम सीमा वहाँ तक कही जा सकती है कि जब शिखरस्वामी वंश-वृद्धों, सामन्तों की परिषद बुलाकर सारी बातों का निर्णय कर लेने की बात कहना और इसे स्वीकार कर लिया जाता है ।

इसके बाद अंतिम अवस्था उस समय सामने आती है, जब एक तरफ तो परिषद् के सामने ध्रुवस्वामिनी को प्रस्तुत करते हुए मन्दाकिनी शिखर स्वामी और रामगुप्त के षड्यंत्र की मुक्त कण्ठ से निन्दा करती है, दूसरी और राजपुरोहित धर्म का आदेश सुनाता है । इसके बाद रामगुप्त के मारे जाने और चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी के राजाधि राज तथा महादेवी घोषित होने की बातें मात्र औपचारिक ही कही जाएँगी ।

कथानक सहज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण संगठित और घटनाक्रम परस्पर सम्बद्ध है । यह प्रक्रिया नाटक की मूल समस्या और उद्देश्य को भी स्वतः ही उजागर करती जाती है । मूलतः राजनीतिक परिस्थितियों और पृष्ठभूमि होने वाला रहने पर भी कथानक आरंभ से अंत तक रोचकता बनाए रखता है । इससे कथानक को रंजकता के साथ-साथ सहज मनोवैज्ञानिक आधार भी प्राप्त हो गया है ।

कथानक में मार्मिक प्रसंग भरे पड़े हैं । कुल मिलाकर ध्रुवस्वामिनी के कथानक और उसकी विकास प्रक्रिया को सभी दृष्टियों से पूर्ण स्वाभाविक, मार्मिक और प्रभावी कहा जा सकता है ।

सह कथानक और प्रासंगिक कथानक - नाटक में कोमा और शकराज के प्रेम संबंधों को दर्शाने वाले घटनाक्रम को सहकथानक माना जाता है । इस कथानक की योजना नाटककार ने नारी के प्रति युग-युग से चले आ रहे पुरुषों के व्यवहार के एक पहलू को दिखाकर मुख्य कथा को सबल और प्रभावी बनाने के लिए ही की है । यह दिखाना चाहता है कि दुश्चरित्र और षड्यंत्रकारी व्यक्तियों की प्रेमिका या पत्नी कुछ भी बनकर नारी को मानसिक यंत्रणा और अपमान ही झेलने पड़े हैं । कोमा शकराज की प्रेमिका ही नहीं, वाग्दता पत्नी भी होती है । पर ध्रुवस्वामिनी को पाने की कल्पना में अन्धा होकर शकराज उसकी पूर्ण उपेक्षा कर देता है । यह उपेक्षा नाटककार की इस धारणा को बल देनेवाली है कि ऐसे पुरुषों से नारी को मुक्ति प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए । कोमा की हत्या

दिखाकर नाटककार ने परम्परागत नारी की चरम परिणति को ही सूचित किया है, उससे नाटक अत्यंत सजीव तथा कलात्मक बन पड़ा है । इन तथ्यों के आलोक में ही इस सह-कथानक की सार्थकता अंकित की जा सकती है ।

20.3 चरित्र चित्रण

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक नायिका प्रधान है । अत: चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हमारा ध्यान सबसे पहले नायिका ध्रुवस्वामिनी की ओर ही जाता है । इतिहास और कलपना का सहारा लेकर नाटककार ने इसके व्यक्तित्व और चरित्र के आसपास ही नाटक के त्रिकोणात्मक संघर्ष का चित्रण किय है । गुप्त कुल में आने से पहले यह शकराज की मंगेतर बन चुकी होती है । दूसरी ओर ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है, पर षड्यंत्र का शिकार होकर वह उससे ब्याही नहीं जाती । तीसरी ओर सन्धि की शर्तों के अनुरूप वह सम्राट समुद्रगुप्त के षड्यंत्र से बने उत्तराधिकारी रामगुप्त से ब्याही जाती है । इस स्थिति को स्वीकार कर लेने के बाद भी ध्रुवस्वामिनी को पति का प्यार तो क्या, महादेवी होने का गौरव तथा सम्मान तक प्राप्त नहीं होता । पति रामगुप्त विवाह के बाद पहली बार इससे तभी बात करता है, जब शकराज की सन्धि शर्त्तों के अनुरूप इसे शक-शिविर में भेजना होता है । न चाहते हुए भी ध्रुवस्वामिनी को राजा और पति रामगुप्त की आज्ञा से चन्द्रगुप्त के साथ शक-शिविर में जाने को बाध्य होना पड़ता है । वहाँ पहल चन्द्रगुप्त के पराक्रम तथा बाद में राजपुरोहित एवं परिषद् के साहसिक निर्णय के परिणामस्वरूप उसकी अनचाही दशा से रक्षा होकर मुक्ति मिलती है । इस प्रकार नाटक का उद्देश्य और नारी की मुक्ति की समस्या का केन्द्र ध्रुवस्वामिनी ही है । नाटककार ने पहले उसे अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट, घुटनशील, परन्तु परम्परा के सत्य को स्वीकार करने वाली नारी चित्रित किया है । पर जब उसे शक-शिविर में भेजने का प्रश्न उठता है तो उसे अपने स्वत्वाधिकारों के प्रति सजग होकर विद्रोहिणी दर्शाया है । फिर उसे साहसी नारी का अभिनय करते पाते हैं । साहस और बुद्धिमानी से ही वह चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर शकराज से छुटकारे में सफल हो पाती है । अन्त में वह अपनी स्थिति के प्रति पुन: विद्रोह प्रकट कर अपना वास्तविक स्थान, अधिकार आदि सभी कुछ पा लेती है । इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी को हम एक सफल प्रेमिका, घुटनशील, विद्रोहिणी, साहसी, बुद्धिमान आदि गुणों से समन्वित पाते हैं । अनिन्ध्य सुन्दरी तो वह होती ही है ।

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक और दूसरा प्रमुख पात्र है । नाटककार ने उसे शान्त स्वभाव वाला, निर्भीक, साहसी, निडर, वीर, कर्त्तव्यपरायण और मौन प्रेमी चित्रित किया है । उसके बाह्य व्यक्तित्व को अत्यधिक सुन्दर तथा आकर्षक दिखाया है । तभी तो नारी वेश में भी वह पहचाना नहीं जाता । गृहकलह से बचने के लिए चन्द्रगुप्त पिता द्वारा प्रदत्त राज्याधिकार का परित्याग तो करता ही है, अपनी प्रेमिका ध्रुवस्वामिनी का परित्याग भी सहन कर लेता है । इसपर भी उसे अपमानित और बन्दी जैसा जीवन व्यतीत करने को बाध्य होना पड़ता है । राष्ट्र और परिवार के सम्मान की रक्षा के लिए वह यह सब भी सहन करता है । पर जब वह देखता है कि उसकी सहनशीलता और मौन के कारण राष्ट्र और वंश दोनों का मान-सम्मान नष्ट होने जा रहा है, तो वह मौन नहीं रह पाता । बाद में चन्द्रगुप्त का मुखर पराक्रम ही शकराज का वध कर ध्रुवस्वामिनी के रूप में वंश की लाज और शकों से राष्ट्र की रक्षा करता है । इसका उचित फल इसे खोया राज्याधिकार और खोई प्रेमिका की पुन: प्राप्ति के रूप में मिल जाता है ।

रामगुप्त नाटक का खलनायक है । नाटककार ने उसे स्वभाव से ही हीन, दुष्चरित्र, षड्यंत्रकारी और नपुंसक बताया है । इन्हीं सभी दुर्गुणों और हीनताओं की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए नाटककार ने रामगुप्त के साथ गूंगे बहरे,

हिजड़े, बौने जैसे आधे-अधूरे पात्रों को जोड़ा है। शिखर-स्वामी की सहायता से षड्यंत्र करके रामगुप्त अयोग्य और अघोषित होने पर भी मगध का साम्राज्य तो हथिया ही लेता है, यह जानते हुए भी कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त में अनुरक्त है, जानबूझ कर उससे विवाह भी कर लेता है। इतना ही नहीं, अपने आप में व्यक्तित्वहीन रामगुप्त अपनी शासन-सत्ता को निष्कंटक बनाने के लिए पत्नी तक को उपहार में दे देने की शकराज की शर्त बिना किसी विरोध के मान लेता है। चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी को भी इस कारण शक-शिविर में जाने को बाध्य करता है कि वहाँ जाकर शकों के हाथों दोनों समाप्त हो जाएँ और उसका रास्ता हमेशा-हमेशा के लिए साफ हो जाए। परन्तु अन्त में इसकी सारी नीति, नीयत और षड्यंत्र इसके अपने ही विपरीत पड़ते हैं। परिषद् के समक्ष इसकी समूची वास्तविकता उजागर हो इसे राज्याधिकार से तो वंचित कर ही देती है, चन्द्रगुप्त को मारने का प्रयास इसकी अपनी मृत्यु का कारण बन जाता है। इस प्रकार नाटककार ने रामगुप्त के चरित्र को सभी प्रकार की हीनतम मानवीय वृत्तियों का केन्द्र चित्रित किया है।

मन्दाकिनी एक कल्पित पात्र है। इसे रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की बहन के रूप में चितारा गया है। मंदाकिनी विवाहिता है और मिलने के लिए ही अपने पितृ-क्रम में भाई चन्द्रगुप्त पर हो रहे अन्याय अत्याचार का प्रतिकार चुकाने की भावना से ही वह रूकी रहती है। नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी के उर्द्धविद्रोहिणी स्वरूप के विपरीत मन्दाकिनी को आधुनिक जागरूक नारी के समानसम्पूर्ण, विद्रोहिणी सत्य और न्याय के यथार्थ पक्ष की समर्थक रूप में चित्रित किया है। पहले अंक में वह प्राणों की बाजी लगाकर वंश और राष्ट्र की सम्मान-रक्षा की प्रेरणा देती है, जबकि तीसरे अंक में मन्दाकिनी ही ध्रुवस्वामिनी के अस्तित्व, अधिकार आदि की रक्षा के प्रश्न उठाकर परिषद् के सामने खुले रूप में रामगुप्त के कुकृत्यों का भण्डाफोड़ करती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटक के उद्देश्य और नारी मुक्ति की मूल समस्या को उजागर करने के लिए ही नाटककार ने मन्दाकिनी जैसे पात्र की सफल-सुघड़ योजना की है।

शकराज ध्रुवस्वामिनी के आसपास बुने गए त्रिकोण का एक मुख्य कोण तो है ही, कोमा का प्रेमी होने के कारण सह कथानक का नायक भी है। नाटककार ने प्रमुखत: इसे मद्यपी और विलासी रूप में ही चित्रित किया है। इसके साथ-साथ अवसर की राजनीति से लाभ उठाना भी शकराज जानता है, वह इसमें सफल नहीं हो पाता और मारा जाता है, यह अलग बात है। प्रतिशोध की आग में जलने के साथ-साथ विलासी होने के कारण ही शकराज अपनी प्रेमिका और वाग्दत्ता वधू कोमा की उपेक्षा तो कर ही देता है, अपने गुरु आचार्य मिहिर देव का अपमान करने से भी नहीं चूकता। ऊपर से अपने आप को राजनीतिज्ञ और साहसी बतानेवाला शकराज भीतर से कहीं बहुत कायर भी चित्रित किया गया है। तभी तो धूमकेतु की बात सुनकर ही उसके प्राण काँप उठते हैं। विलासिताजन्य विवेक शून्यता के परिणामस्वरूप ही पुरुष नारी में भेद न कर पाने के कारण शकराज अपनी समस्त योजनाओं और प्रतिशोध को मन में ही छिपाए चन्द्रगुप्त के हाथों मारा जाता है। नाटक के मूल उद्देश्य और समस्या को उजागर करने के लिए ही पूर्ण सफलता के साथ इस ऐतिहासिक पात्र को चितेरा है।

कोमा नाटककार जयशंकर प्रसाद की एक कोमल-कान्त और काव्यमयी कल्पना है। स्वभाव और कार्य के स्तर पर कोमा को एक परम्परागत नारी के रूप में ही चित्रित किया गया है। वह शकराज की प्रेमिका और वाग्दत्ता वधू होती है। ध्रुवस्वामिनी के मामले को लेकर शकराज के विलासी चरित्र स्वभाव की वास्तविकता जान लेने, पालक पिता आचार्य मिहिर देव के चेताने पर भी इसका प्रेमी हृदय शकराज की तरफ से नहीं मुड़ पाता। अन्त में मृतक प्रेमी के शव को सीने से लगाए रामगुप्त के उद्धत सैनिकों के हाथों मारी जाती है। इस प्रकार नाटककार ने कोमा के चरित्र

को परम्परागत दिखाकर नाटक के उद्देश्य और मूल समस्या के इस एक पक्ष को उजागर किया है कि प्रेमिका के रूप में भी नारी को पुरुष समाज से हमेशा उपेक्षा ही मिलती रही है, अत: उसे मुक्ति का अधिकार मिलना ही चाहिए ।

आचार्य मिहिरसेन का ऐतिहासिक व्यक्तित्व और चरित्र नाटक में कोई विशेष प्रयोजनीय नहीं लगता । लगता है, प्रसाद जी ने उनके काल-निर्धारण के लिए ही यहाँ टाँक दिया है । वैसे उन्हें शकराज का धर्मगुरु, कोमा का पालक पिता और नक्षत्रज्ञ के रूप में एक कुशल वैज्ञानिक चित्रित किया गया है । कथानक योजना और विकास में उनकी चेतावनियाँ ही सहायक कही जा सकती हैं ।

शिखर स्वामी गुप्तवंश के आमात्य के रूप में उस युग में उच्च स्तर पर होनेवाले राजनीतिक षड्यंत्रों का भण्डाफोड़ हो जाने पर, बाजी हाथ से जाती देख एक कुशल राजनीतिज्ञ के समान ही यह अपना पैंतरा बदल परिषद् के निर्णय के सामने नतमस्तक हो, अपना प्राण बचा लेता है ।

राज पुरोहित और परिषद् धर्म और समाज के प्रतिनिधि पात्र तो हैं ही, नाटककार प्रसाद के विचारों के वाहक भी हैं । नारी-मुक्ति और राजनीतिक नैतिकता के बारे में ये लोग वही निर्णय करते हैं कि जो समसामयिक और नाटककार का काम्य निर्णय भी है । इस दृष्टि से इनकी चारित्रिक योजना की सफलता और सार्थकता एकदम स्पष्ट है । इसी प्रकार सामन्त कुमार भी नाटककार की योजना और विचारधारा के अनुरूप ही चित्रित किए गए हैं ।

शेष पात्रों में से खिंगल, खड्गधारिणी आदि को मात्र अपने स्वामियों की आज्ञाओं के पालक कहा जा सकता है । हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि पात्रों की चारित्रिक योजना को दो दृष्टियों से सफल कहा जा सकता है । एक तो यह कि शुष्क राजनीतिक षड्यंत्रों से भरे इस नाटक में सस्ता ही सही, इन पात्रों के आ जाने से थोड़ा मनोरंजन हो जाता है, साथ ही रामगुप्त के आधे-अधूरे अंतरंग चरित्र को भी अभिव्यक्ति मिल जाती है । दूसरे चन्द्रगुप्त को नारी बनकर शक-शिविर में जाने की प्रेरणा भी इनमें से एक पात्र हिजड़े के कथन से ही प्राप्त होती है । इन बातों के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में रनिवासों में सुरक्षा की दृष्टि से इसी प्रकार के व्यक्तियों को रखा ज़ाता था ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की पात्र योजना और उनके चरित्र-चित्रण कथ्य-कथानक की आन्तरिक आवश्यकता के अनुरूप पूर्णतया सार्थक और सफल हैं । उनकी चारित्रिक-योजना एक समूचे युग को अभिव्यक्ति देने वाली तो है ही, शाश्वत मानवीय गुणों की भी परिचायक है ।

20.4 देशकाल और वातावरण

देश का अर्थ होता है वह स्थान जहाँ नाटक में वर्णित घटनाएँ कथानक और विकाससूत्र घटित होकर विसित हुए हों । 'काल' का अर्थ होता है वह युग और समय, जब समूचा घटनाक्रम और क्रिया-व्यापार घटित होता है । 'वातावरण' का अर्थ होता है, देशकाल के अनुरूप परिस्थितियों का चित्रण । इस प्रकार इस तत्त्व के अन्तर्गत किसी नाटक का विवेचन करते समय यह देखा जाता है कि नाटक के मूल कथ्य-कथानक का संबंध जिस स्थान और समय के साथ जुड़ा हुआ है उसके अनुकूल परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, रुचियों आदि का वर्णन हो पाया है कि नहीं । वर्णन और व्यवहार के स्तर पर वातावरण-चित्रण के दो प्रमुख रूप माने जाते हैं - एक बाह्य वातावरण, जिसका संबंध देशकाल की प्रकृति और भूगोल आदि से रहा करता है, दूसरा आन्तरिक वातावरण, जिसका संबंध घटनाकाल की अन्त:

प्रवृत्तियों, रुचियों, समस्याओं आदि से रहा करता है । नाटक में देशकाल के अनुरूप ही इन दोनों प्रकार के वातावरण का स्पष्ट चित्रण मिलता है । नाटक का आरंभ एक ओर तो वर्ण्य घटना के प्रकृति-चित्रण में होता है तो दूसरी ओर उसके द्वारा शासक रामगुप्त की प्रवृत्ति की रूक्षता, कठोरता और स्वार्थपरता का भी आभास मिल जाता है । उदाहरण देखें - (सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ! और इन क्षुद्र, निरीह, कोमल लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न ।'' संवादों के माध्यम से तो नाटककार ने इस प्रकार से अन्त:बाह्य वातावरण का चित्रण किया ही है, उसने दृश्यारम्भ या बीच-बीच में जो अनेक प्रकार के रंग संकेत दिए हैं, वे भ्झी उसके उजागरण में पर्याप्त सहायक हुए हैं ।

आन्तरिक वातावरण और परिस्थितियों के चित्रण की दृष्टि से नाटक पढ़ने पर उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक और नैतिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों, रुचियों आदि से संबंधित तथ्यों की झलक मिल जाती है । राजनीति, धर्म, समाज की अनेकबिध मान्यताएँ भी हमारे सामने आ जाती हैं । अत: इस तत्त्व के आलोक में भी आलोच्य नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' को पूर्ण सफल कहा जा सकता है ।

20.5 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी नाटक के कथानक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।
2. ध्रुवस्वामिनी नाटक के चरित्र चित्रण पर प्रकाश डालिए ।
3. ध्रुवस्वामिनी नाटक के देशकाल एवं वातावरण पर प्रकाश डालिए ।

ध्रुवस्वामिनी : ऐतिहासिकता और कल्पना

पाठ संरचना

21.0 उद्देश्य
21.1 रचना
21.2 ऐतिहासिकता और कल्पना
21.3 अभ्यास के प्रश्न

21.0 उद्देश्य

'ध्रुवस्वामिनी' जयशंकर प्रसाद का अन्तिम कलात्मक नाटक है । इस नाटक की रचना से प्रसाद जी की नाट्यकला का नया चरण आरंभ होता है । अब वे परंपरागत ढंग की रचना छोड़कर नए ढंग के आधुनिक समस्या से संबंधित नाटक रचने लगे । ध्रुवस्वामिनी की कथा मगध के सुप्रसिद्ध गुप्तवंशीय सम्राट समुद्रगुप्त के दोनों बेटे रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की कथा है । इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता से पाठकों को परिचित कराना है ।

21.1 परिचय

जयशंकर प्रसाद ने रोमांटिक धर्मी ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों का सृजन कर हिन्दी नाटक का विकास किया । नाटकों के ऐतिहासिक कथानक के लिए उन्होंने भारत के सुदूर अतीत के संधिकालिक इतिहास को ही चुना । इसका एक कारण था । वे अपने नाटकों के माध्यम से स्वतंत्रता-संघर्षरत अपने समाज तथा व्यक्ति के जीवन को उसके अंतर्बाध्य सभी रूपों में स्पंदित करना चाहते थे एवं मूल्यंवत्ता का दिग्दर्शन करना चाहते थे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे नाट्यवस्तु को अपनी कल्पना से ऐसे-ऐसे नए घुमाव देते थे, जिससे मानवीय संबंधों की अनेकानेक संवेदनाएँ प्रकट होती हैं । जिन जीवन प्रसंगों के प्रति इतिहास मौन रहता है, उन्हें वे अपनी कल्पना से रूप देते थे । इस प्रयत्न में उनके नाटकों के कथानक जटिल तो हो ही गए हैं, किंतु कथानक को रचते समय इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय करके वे जीवन के बहुआयामी चित्र व्यक्त करते हैं । इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी व्यक्ति वैचित्र्य की नई विशेषता अनायास ही उभर आती है । प्रसाद के आविर्भाव के साथ हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ता है ।

21.2 ऐतिहासिकता और कल्पना

प्रसाद को भारतीय सभ्यता-संस्कृति और प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास से अत्यधिक अनुराग था । यही कारण है कि प्राचीन इतिहास के खण्डहरों का आलोड़न कर प्रसाद ने बहुत सारे विस्मृत और खोए हुए तत्त्व खोजकर उन्हें

अपनी अनेकविध रचनाओं को सजाया संवारा । भारतवासियों को गौरवपूर्ण ढंग से जीने की प्रेरणा दी । नारी के कोमल, कान्त और त्याग-बलिदानमय पवित्र व्यक्तित्व एवं चरित्र के प्रति भी उनके मन-मस्तिष्क में अगाध श्रद्धा-विश्वास की भावना रही । अपनी रचनाओं-विशेषकर नाटकों में, ऐतिहासिक संदर्भों में भी उन्होंने कभी नारी पात्रों को लांछित नहीं होने दिया । अपने जीवन में प्रसाद जी ने यह अनुभव किया कि नारियों का अनेक प्रकार से शोषण किया जाता है और पुरुषों द्वारा पीड़ित और अपमानित होकर भी उनके अधीन रहने को बाध्य होती है । अगर कोई नारी उस शोषण से मुक्ति के लिए तलाक मांगती है अथवा स्वतंत्र अस्तित्व और पहचान बनाने की कोशिश करती है तो तथाकथित धर्मध्वजों के सिंहासन हिलने लगते हैं । पापाचार और अनाचार की संज्ञा देते हैं । प्रसाद ने भारतीय इतिहास और ध र्मग्रंथों का अध्ययन किया और ऐतिहासिक साक्ष्यों को आधार बनाया । ध्रुवस्वामिनी की भूमिका में प्रसाद ने नारी और पुरुष के पुनर्लग्न की शास्त्रीय आधार पर चर्चा की है । पराशर के कथन को उद्धृत किया है -

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लवीवे च पतिते पतौ ।

पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो बिधीयते ।''

ध्रुवस्वामिनी सामाजिक समस्या वाला नाटक होते हुए भी इसका कथानक ऐतिहासिक और राजनीतिक है । नाटक की मूल अवधारणा ऐतिहासिक कथानक पर आधारित है । यह बात 'सूचना' शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गई नाटककार की नाटक संबंधी भूमिका से भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है ।

हिन्दी नाटक साहित्य एवं विश्व के नाटक साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों के तीन प्रमुख रूप देखने को मिलते हैं - (क) विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक (ख) काल्पनिक ऐतिहासिक नाटक तथा (ग) कल्पना मिश्रित ऐतिहासिक नाटक । दूसरे प्रकार के कल्पित ऐतिहासिक नाटकों में कई बार तो व्यक्तियों और स्थानों के नाम मात्र ही ऐतिहासिक हुआ करते हैं । शेष सभी कुछ कल्पित रहा करते हैं । कई बार इनमें वातावरण और नाम ऐतिहासिक देकर बाकी सब कुछ नितांत कल्पित कर दिया जाता है । कल्पना के कारण स्वभावत: ऐसा नाटकों में मनोरंजन तत्त्वों का समावेश अपने आप ही हो जाता है । तीसरे प्रकार के कल्पना मिश्रित ऐतिहासिक नाटकों में मुख्य तथ्य, पात्र और घटनाएँ तो प्राय: शुद्ध और ऐतिहासिक रहती हैं, पर अपने इच्छित उद्देश्य, युग के प्रश्नों आदि को भी चित्रित करने के लिए नाटककार उनमें इतिहास-सी प्रतीत होनेवाली कुछ काल्पनिक बातों को भी जोड़ देते हैं । या फिर घटित घटनाओं आदि में अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन नाटककार द्वारा कर दिया जाता है ।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में ध्रुवस्वामिनी नाटक मूल अवधारणा की दृष्टि से ऐतिहासिक होते हुए भी पूर्ण ऐतिहासिक नहीं, बल्कि तीसरे प्रकार का 'कल्पना-मिश्रित ऐतिहासिक' नाटक है वह इसलिए कि इसमें नाटककार जयशंकर प्रसाद ने इतिहास के उपलब्ध तथ्यों की रक्षा करते हुए भी इसे मनोरंजक और अपने उद्देश्य तथा समस्या को ध्यान में रखकर कुछ कल्पना से भी काम लिया है । यह कल्पना पात्रों से संबंधित तो है ही उनसे संबंध रखनेवाली कुछ घटनाओं से भी संबंध रखती है । ऐसा करने से इतिहास और साहित्यिकता दोनों की निश्चय ही पूर्ण रक्षा हो पाई है । इन मूल तथ्यों के आलोक में ही 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के कथानक की ऐतिहासिकता और कल्पना से संबंधित तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण किया जा सकता है ।

कथानक स्रोत - जयशंकर प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी नाटक के कथानक के उपलब्ध स्रोतों पर 'सूचना' भूमिका में स्पष्ट किया है :

(1) 'मुद्राराक्षस' जैसे प्रसिद्ध नाटक के रचयिता विशाखादत्त के एक अन्य नाटक 'देवी-चन्द्रगुप्त' से जिसके कुछ उद्धरण आचार्य भोज-विरचित 'शृंगार प्रकाश' और 'नाट्य दर्पण' नामक रचनाओं में प्राप्त होते हैं ।

(2) सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में ।

(3) बाणभट्ट के 'हर्षचरित' नामक रचना में और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' से भी ।

(4) 'संजात ताम्रात्र' से ।

(5) भण्डारकर, जायसवाल

(6) 'अल्तेतकर, अबुल हसन, अल्वी जैसे प्राचीन देशी-विदेशी इतिहासज्ञों की रचनाओं से ।

(7) चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' और नारद तथा पराशर की स्मृतियों से ।

(8) आचार्य राजशेखर कृत 'काव्य-मीमांसा' से ।

उपरोक्त ऐतिहासिक स्रोतों से सूत्र और सामग्री लेकर नाटककार प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' को ऐतिहासिकता प्रतिपादित किया है । इन स्रोतों के आधार पर ही नाटक के पात्रों और घटनाओं का निर्णय किया जा सकता है । प्रसाद जी ने उपरोक्त सभी स्रोतों से कथा सूत्र लिया, परन्तु प्रमुखता अबुल हसन अल्वी तथा विशाखादत्त-विरचित -देवी चन्द्रगुप्त' में वर्णित तथ्यों को दिया । इन दोनों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्य इस प्रकार हैं -

गुप्तवंश में सम्राट समुद्रगुप्त सबसे अधिक प्रतापी राजा हुए । उन्होंने शकों-हूणों को पराजित करके भारत के सीमावर्ती प्रदेशों को सुरक्षित करने के लिए अनेक सैनिक अभियान चलाए थे । इसी प्रकार के एक अभियान के बाद ही एक पराजित सामन्त नरेश से होनेवाली सन्धि की शर्तों के अंतर्गत ध्रुवस्वामिनी गुप्तवंश में वधू बनकर आई थी । सम्राट चन्द्रगुप्त के दो बेटे थे । बड़ा रामगुप्त और छोटा चन्द्रगुप्त । गुप्तवंश की परम्परा और नियम यह नहीं था कि बड़ा बेटा ही राज्य का उत्तराधिकारी होना चाहिए । सभी प्रकार से योग्य व्यक्ति को ही उत्तराधिकारी घोषित किया जाता था । इस दृष्टि से सम्राट चंद्रगुप्त को ही राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया । किन्तु बाद में चन्द्रगुप्त ने यह देखकर कि बड़ा भाई राज्य का इच्छुक है, अत: एक तो आदरवश और गृहकलह से बचने हेतु स्वेच्छा से राज्य का परित्याग कर दिया । इस कारण चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग भाव रहते हुए भी ध्रुवस्वामिनी को राज्य के उत्तराधि कारी बनाए गए रामगुप्त से विवाह करना पड़ा । बाद में रामगुप्त शकराज की सेना के घेरे में आने के कारण ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास उपहार स्वरूप भेजना स्वीकार किया । तब रामगुप्त और चन्द्रगुप्त ने मिलकर शकराज से युद्ध करने की योजना बनाई । चन्द्रगुप्त देवी या महादेवी (ध्रुवस्वामिनी) अथवा स्त्रीवेश बनाकर शक-शिविर में गए और अवसर पाकर उसका वध कर डाला । अबुल हसन अल्वी और देवीचन्द्रगुप्त के अनुसार बाद में स्वयं चन्द्रगुप्त रामगुप्त का वध कर डाला और विधवा हो गई अपनी पूर्व रागिनी ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लिया ।

ऐतिहासिक कथासूत्रों को आधार बनाकर प्रसाद ने ऐतिहासिक-सी ही प्रतीत होनेवाली कल्पना का सहारा लेकर उसमें कई प्रकार से परिवर्तन किया । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त स्वेच्छा से राज्य का परित्याग नहीं करता, अपितु साम्राज्य के एक अमात्य शिखर स्वामी और रामगुप्त के सुनियोजित षड्यंत्र का शिकार होकर उत्तराधिकारी से वंचित होना पड़ा । इसके साथ ही अपनी प्रेमिका ध्रुवस्वामिनी को भी खोना पड़ा । इसी प्रकार शकराज गुप्तवंश के द्वारा यह घोषणा की कि ध्रुवस्वामिनी उसकी मंगेतर थीं, जिसे राजनीतिक शक्ति के बल से हथिया लिया, अब वह राजनीतिक प्रतिशोध के लिए ही ध्रुवस्वामिनी यानी अपनी पुरानी मंगेतर की माँग कर रहा है, यह भी प्रसाद

जी की ही एक सहज मनोवैज्ञानिक कल्पना है । मूल कथा में शकराज से युद्ध की योजना रामगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों मिलकर बनाते हैं तब चन्द्रगुप्त स्त्री बनकर शक शिविर में पहुँच उसका वध करता है । परन्तु यहाँ नाटक में प्रसाद ने रामगुप्त को एक कायर, नपुंसक और षड्यंत्रकारी के रूप में ही दिखाया है, जो अपने निष्कण्टक राज्य के लिए ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों से छुटकारा चाहता है । अत: वह राजाज्ञा घोषित करके, हिजड़े की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त को नारी बनकर शक-शिविर में जाने को बाध्य करता है । वह आदेश देकर ध्रुवस्वामिनी को भी चन्द्रगुप्त के साथ भेजता है, जहाँ उनके साथ सामन्त कुमार भी जाते हैं और सब योजनाबद्ध रूप से शकराज तथा उसके सैनिकों का वध करके शक दुर्ग पर अपना अधिकार जमा लेते हैं । इस प्रकार मूल कथानक में कल्पना मिश्रित कर नाटक का समूचा आयाम स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक और ग्राह्य बना गया है ।

जो हो, इतिहास और कल्पना के सुघड़ मेल के कारण ही इस प्रकार के प्रकल्पित कथानक पर्याप्त आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बन जाया करते हैं । इस दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी नाटक का कथानक प्राय: प्रकल्पित ही अधिक स्वीकार किया जाता है । इसमें रामगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे पात्र और इनसे संबंधित घटनाएँ तो प्राय: ऐतिहासिक हैं, जबकि मन्दाकिनी, कोमा, पुरोहित, परिषद आदि सभी कुछ नाटककार जयशंकर प्रसाद की अपनी सुघड़ कल्पना ही है । इसी कारण नाटक कथानक को स्रोत की दृष्टि से प्रकल्पित कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है ।

कथानक के इन रूपों, भेदों के अतिरिक्त वर्ण्य-विषय आदि की दृष्टि से भी उसके कई भेद माने जाते हैं । जैसे-सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, पारिवारिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक कथानक आदि । इस दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के कथानक को मुख्यत: राजनीतिक कहना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें नायिका ध्रुवस्वामिनी के साथ अच्छा बुरा, न्याय अन्याय आदि जो कुछ भी घटित होता है, वह पहले सम्राट समुद्रगुप्त और उसके अपने पिता, फिर रामगुप्त और शिखरस्वामी और बाद में शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध के कारण ही घटित होता है । ध्रुवस्वामिनी को बार-बार पुरुषों की राजनीतिक शतरंज का मोहरा ही बनना पड़ता है । ऐसी स्थिति में कथानक राजनीतिक भी कहा जाएगा ।

मूल कथानक को स्वाभाविक बनाकर विकसित करनेवाले उपरोक्त तथ्यों के साथ-साथ नाटककार ने अन्य अनेक प्रकार की सुनियोजित कल्पनाएँ भी की हैं । नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी को आरंभ से अन्त तक अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट और मुक्ति के लिए छटपटाते हुए कल्पना के बल पर ही दिखायी है । इसी प्रकार रामगुप्त के चरित्र की हीनता और आधा-अधूरापन दिखाने के लिए ही नाटककार ने गूँगी का अभिनय करनेवाली खड्गधारिणी हिजड़े, बौने और कुबड़े जैसे पात्रों की कल्पना की है । हिजड़े की कल्पना चन्द्रगुप्त को स्त्री बनकर शक-शिविर में जाने की प्रेरणा देने के लिए भी की है । हिजड़ा एक स्थान पर कहता है कि "कुमार ! मैं शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यदि मैं अपने हाथों से सजा दूँ तो आपको देखकर महादेवी को भ्रम हो जाए ।" यह सुनकर बुरा लगने पर भी दृढ़ निश्चय के साथ चन्द्रगुप्त शिखर स्वामी से कहता है - 'आमात्य ! तो तुम्हारी ही बात रही । हाँ, उसमें तुम्हारे सहयोगी हिजड़ों की भी सम्मति मुझे अच्छी लगी । मैं ध्रुवस्वामिनी बनकर अन्य सामन्त कुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा ।" इस प्रकार कथानक की योजना और विकास में इस प्रकार के पात्रों और उनके क्रियाकलापों की कल्पना सार्थक हो जाती है ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में रामगुप्त और चंद्रगुप्त की बहन के रूप में मन्दाकिनी और उसके क्रियाकलाप भी ऐतिहासिक परिवेश में ही कल्पित है । आधुनिक जागरूक नारी की सजग चेतना और उचित अधिकारों की न्यायपूर्ण

माँग को, नारी-मुक्ति की समस्या को उजागर करने के लिए ही नाटककार ने मंदाकिनी की कल्पना की है । शिखरस्वामी और सिंगल को हम अर्द्ध-ऐतिहासिक पात्र कह सकते हैं । वह इसलिए कि क्रमशः अमात्य और राजदूत के रूप में ये दोनों पात्र रहे तो होंगे हाँ इनका नाम अवश्य ही नाटककार ने परिकल्पित किया है जो वस्तुतः ऐतिहासिक ही लगता है । शेष पात्रों में कोमा, राजपुरोहित, परिषद् के सदस्य और सामन्त कुमार, गूँगी का अभिनय करनेवाली खड्गधारिणी, बौने, हिजड़े, बहरे आदि सभी नाटककार ने अपने कथ्य-कथानक की आवश्यकतानुसार कल्पना की है । पर यह परिकल्पना इतनी सटीक, सचित्र और सजीव है कि इसने कल्पित पात्रों को भी एकदम ऐतिहासिक ही बना दिया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्रोत की दृष्टि से नाटक में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्रों की सुघड़ योजना की गई है । ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण को सम्पूर्णतः इतिहास-सम्मत और ऐतिहासिक सम्भावनाओं के अनुरूप किया ही गया है, कल्पित पात्रों का चरित्र भी वस्तुतः सम्पूर्णतया ऐतिहासिक सम्भावनाओं से पूर्ण बन पड़ा है । नाटक में कोमा उसका शकराज के साथ प्रणय प्रसंग भी और निराशा की स्थिति में आचार्य मिहिरदेव के साथ उसकी रामगुप्त के सैनिकों द्वारा हत्या भी नाटककार की अपनी कल्पना ही है । कोमा ही कल्पना नाटककार ने नारी मुक्ति की समस्या के इस पक्ष को उजागर करने के लिए की है कि पत्नी के रूप में तो कामान्ध और लालची षडयंत्रकारी पुरुष नारी को अपनी राजनीतिक इच्छापूर्ति का साधन बनाता ही आया है, प्रेमिका के रूप में भी नारी को नितान्त उपेक्षा और फरेब ही मिलता आ रहा है । अतः उसे पुरुष समाज के चंगुल से मुक्ति का अधिकार मिलना ही चाहिए । प्रसिद्ध नक्षत्र आचार्य मिहिरदेव है तो ऐतिहासिक व्यक्ति पर जिस रूप में नाटक में उन्हें शकराज के धर्मगुरु के रूप में दिखाया, कोमा से संबंधित बताया गया है, वह सब पूर्णतया कल्पित ही कहा जाएगा । इस परिकल्पना का आधार नाटक या उसकी 'सूचना' (भूमिका) में कहीं भी स्पष्ट नहीं है ।

नाटक के अन्त में धर्माधिकारी के रूप में राजपुरोहित और समाज के प्रतिनिधि के रूप में जिस परिषद् की योजना की गई है, वह भी नाटककार प्रसाद की एक अत्यन्त सुघड़ सजीव कल्पना है । यह कल्पना नाटक में नारी मुक्ति या तलाक की समस्या के अनुरूप की गई है । राजपुरोहित के माध्यम से नाटककार यह बताना चाहते हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों में धर्म और शास्त्र भी नारी को तलाक या मुक्ति का अधिकार प्रदान करता है । परिषद् का प्रयोग दो कार्यों के लिए किया गया है । एक तो धर्म के प्रतिनिधि पुरोहित के निर्णय को सामाजिक मान्यता दिलवाने के लिए दूसरे सम्राट समुद्रगुप्त के राज्याधिकारी का उचित निर्णय के लिए । इस प्रकार ऐतिहासिक परिवेश में नाटककार ने अत्यन्त नवीन और योग्य ढंग से जनतंत्री मूल्यों को मान्यता दिलवाई है और उनका उचित प्रतिपादन किया है । इस कल्पना को आलोच्य नाटक की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है ।

नाटक के समापन में भी नाटककार प्रसाद ने कल्पना का आश्रय लिया है । मूल स्रोत के आधारानुसार शकराज को मारने के बाद स्वयं चन्द्रगुप्त रामगुप्त की हत्या करके विधवा ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लेता है । परन्तु नाटक में रामगुप्त द्वारा कटार से चन्द्रगुप्त पर प्रहार करके उसे नीचे गिरा देता है । नीचे गिर कर वह मरा या नहीं, यह अस्पष्ट है । और फिर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के विवाह की बात स्पष्ट नहीं कही गई । हाँ, राजाधिराज चन्द्रगुप्त की जय और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय कहलवा करके इस बात की ओर संकेत अवश्य कर दिया गया है । ये सभी कल्पनाएँ वास्तव में कल्पनाएँ न लगकर इतिहास ही प्रतीत होती हैं, इसे नाटक की एक बहुत बड़ी विशेषता कहा जा सकता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्रोत की दृष्टि से नाटक में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्रों की सुघड़ योजना की गई है । ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण तो सम्पूर्णत: इतिहास सम्मत और ऐतिहासिक संभावनाओं के अनुरूप किया ही गया है, कल्पित पात्रों का चरित्र चित्रण भी वस्तुत: सम्पूर्णतया ऐतिहासिक संभावनाओं से पूर्ण है ।

इनके अतिरिक्त भी नाटक में, ऐतिहासिक परिवेश में अनेक प्रकार की सामान्य कल्पनाओं की योजना मिलती है । पहले अंक में शक शिविर में जाने की बात सुन ध्रुवस्वामिनी द्वारा कटार निकाल आत्महत्या की चेष्टा अचानक चन्द्रगुप्त का आगमन, ध्रुवस्वामिनी को साथ लेकर शक शिविर की ओर प्रस्थान, मन्दाकिनी का प्रमाण गीत का काल्पनिक है । दूसरे अंक में शक-सामन्तों के साथ मिलकर शकराज का मदिरापान और नृत्य-दृश्य भी कल्पित है । आचार्य मिहिरदेव द्वारा धूमकेतु की चर्चा सुन शकराज का भीति नाट्य, कोमा और आचार्य मिहिरदेव द्वारा शकराज को समझाने-बुझाने के प्रयत्न फिर तीसरे अंक में ध्रुवस्वामिनी और राजपुरोहित का तर्क-वितर्क, शकराज का शव लेने के लिए कोमा का आगमन आदि भी सुन्दर कल्पनाएँ हैं । जो भी हो, इतिहास और कल्पना के सुन्दर मेल के कारण ही इस प्रकार के प्रकल्पित कथानक आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बन जाया करते हैं । ध्रुवस्वामिनी के कथानक प्राय: प्रकल्पित ही अधिक स्वीकार किये जाते हैं । इसमें रामगुप्त, चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी जैसे पात्र और इनसे संबंधित घटनाएँ तो ऐतिहासिक हैं, जबकि मन्दाकिनी, कोमा, पुरोहित, परिषद् आदि सभी कुछ नाटककार, जयशंकर प्रसाद की अपनी सुन्दर कल्पना ही है । इसी कारण नाटक को स्रोत की दृष्टि से प्रकल्पित कहा जा सकता है ।

इस प्रकार नाटक का समूचा वातावरण देशकाल के अनुरूप ऐतिहासिक ही है, परन्तु परिषद् जैसी योजनाएँ करके नाटककार ने उसे आधुनिक जनतांत्रिक आयाम देने का भी सफल प्रयास किया है । नाटक की मूल समस्या परम्परागत विवाह बन्धन से मुक्ति और नारी को पुनर्विवाह का अधिकार आदि, जितनी ऐतिहासिक है, उतनी ही आधुनिक भी । विवरण-विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का कथानक इतिहास और कल्पना का समन्वय है । अपनी कल्पनाशक्ति से प्रसाद जी ने अपनी कलात्मक कल्पना को इतिहास बना दिया है ।

21.3 अभ्यास के प्रश्न

1. 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की ऐतिहासिकता पर टिप्पणी कीजिए ।
2. 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की कल्पना और इतिहास का सुन्दर समन्वयात्मक कृति है ।' उल्लेख कीजिए ।
3. 'ध्रुवस्वामिनी' की कल्पनांश पर टिप्पणी लिखिए ।

ध्रुवस्वामिनी की रंगमचीयता

पाठ संरचना

22.0 उद्देश्य
22.1 परिचय
22.2 ध्रुवस्वामिनी की रंगमंचीयता
22.3 अभ्यास के प्रश्न

22.0 उद्देश्य

'ध्रुवस्वामिनी' जयशंकर प्रसाद का अंतिम कलात्मक नाटक है । इस नाटक की रचना से प्रसाद जी की नाट्यकला का नया चरण आरंभ होता है । अब ये परम्परागत ढंग की नाटक रचना को छोड़कर नए ढंग के आधुनिक समस्या से संबंधित नाटक रचने लगे । इस पाठ का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी की रंगमंचीयता से पाठकों को अवगत कराना है ।

22.1 परिचय

पाठकों और दर्शकों की दृष्टि से नाटक के दो पहलू होते हैं - श्रव्य और दृश्य । पर उसका दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्व रखता है । इस कसौटी के आधार पर सिद्धांतत: तो नाटक श्रव्य और दृश्य दोनों ही कोटियों में आता है, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में वह दृश्य काव्य ही है । इस प्रकार रंगमंच का नाटक से निकट का संबंध है । नाटककार नाटक में स्वयं तो कुछ कहता नहीं है, वरन् अपने पात्रों को वेशभूषा, शारीरिक चेष्टाओं और हाव-भाव आदि के द्वारा अपना मन्तव्य प्रकट करना चाहता है । यदि उनका फल अभिनय नहीं हो सका तो नाटक का उद्देश्य असफल ही समझना चाहिए । नाटक के अभिनय में ही नाटक की नाना समस्याएँ, मनुष्य के चरित्र सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप और समस्याओं का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष समाधान सन्निहित रहता है । इसलिए नाटककार का नाटक रचना के समय अभिनेयता के विशेष तत्त्व पर ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है ।

22.2 ध्रुवस्वामिनी की रंगमंचीयता

भारतीय और पाश्चात्य दोनों के काव्य शास्त्रों में नाटकों को साहित्य की एक दृश्य विधा माना गया है । इस मान्यता के अनुसार किसी नाटक की श्रेष्ठता और सफलता का मानदण्ड यह है कि उसे रंगमंच पर सहज सरल परन्तु प्रभावशाली ढंग से अभिनीत किया जा सके । जो नाटक रंगमंच पर अभिनय की कसौटी पर खरा नहीं उतरता,

नाटक-मर्मज्ञ और रंगकर्मी उसे नाटक तक मानने को तैयार नहीं होते । उसे मात्र संवाद बल्कि वार्तालाप योजना कहकर उपेक्षित कर देते हैं । इस उपेक्षा से बचने के लिए आवश्यक है सर्जक कलाकार नाटक-रचना के समय रंगमंच और अभिनय की सभी संभावनाओं का पूर्णतया ध्यान रखकर ही सृजन करे ।

हिन्दी रंगमंच का विकास रामलीला रासलीला, नौटंकी, स्वांग, कठपुतली के नृत्य आदि के द्वारा हुआ है । इसके रंगमंच की सम्पूर्णता तो होती नहीं है, पर रंगमंच का लघु स्वरूप अवश्य देखने को मिलती है । इनमें संगीत की अधिकता तथा संवादों में कथानक की प्रधानता ही अधिक देखने को मिलती है । डॉ० सोमनाथ गुप्त को अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में हिन्दी के रंगमय के विषय में लिखा है - ''सत्य तो यह है कि रंगमंच कहलानेवाली और इस नाम को सार्थक करनेवाली कोई स्थायी हिन्दी जगत के पास अभी तक भी नहीं है । अतएव हिन्दी रंगमंच और उस पर अभिनीत हुए, होनेवाले या होने के लिए लिखे जानेवाले नाटकों का इतिहास वास्तव में या तो उन नाटक मंडलियों का इतिहास मात्र है, जिनका जन्म समय-समय पर हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न नगरों में हुआ और जिन्होंने जनता में हिन्दी भाषा और उसके संबंध में रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया अथवा वह केवल उन नाटकों का विवरण मात्र हैं जो उन्हीं के प्रभाव के कारण लिखे गए । जिस रंगमंच पर हिन्दी नाटकों का अभिनय आरंभ हुआ, वह सीधा संस्कृत रंगमंच से नहीं लिया गया । अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव से उसका जन्म हुआ है । हिन्दी का रंगमंच अपने बाह्य रूप में पश्चिम का अनुकरण अधिक है ।'' इस दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक रंगमंच के अधिक अनुकूल रहे हैं, क्योंकि वे नाटककार होने के साथ-साथ एक कुशल अभिनेता भी थे । सफल अभिनेय नाटकों में कुछ कसौटियाँ रहती हैं । अपनी सफलता के लिए अभिनेय नाटकों को खरा उतरना आवश्यक हो जाता है । वे कसौटियाँ या गुण निम्न हैं - (1) नाटकों में घटनैक्य, स्थानैक्य और भावैक्य का होना अर्थात् संकलन-त्रय का अन्वित होना आवश्यक है । घटनाओं की अवधि ऐसी होनी चाहिए जिससे कम-से-कम दृश्यों की आवश्यकता हो । बार-बार दृश्य-परिवर्तन में दृश्य निर्माता और प्रेक्षक दोनों को ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है । भावों की परस्पर एकता होना आवश्यक है, उससे रस निष्पत्ति में पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है और रसाभास के स्थल भी रसान्वित में परिवर्तित हो जाते हैं ।

(2) वर्जित दृश्यों को, जैसे-भोजन, हत्या, चुम्बन, युद्ध आदि के दृश्य रंगमंच पर नहीं दिखाने चाहिए । इनसे भी रसनिष्पत्ति में व्यवधान उपस्थित होता है और सहृदयों के हृदयों में संस्कारित विचारों की पुष्टि नहीं हो पाती ।

(3) संवादों में नाटकीयता होना आवश्यक है अर्थात् संवाद छोटे और परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए । लम्बे-लम्बे संवाद अथवा स्वगत-कथन अपनी व्याख्यान अनुमोदित वक्तृता अथवा अस्वाभाविकता प्रेक्षकों को अपनी नीरसता के बोझ से दबा देती है ।

(4) भाषा पात्रानुकूल एवं सामान्य दर्शक के स्तर की होनी चाहिए, जिससे पात्रों को अस्वाभाविकता और दर्शकों को कठिनता का अनुभव न करना पड़े ।

(5) गीतों का प्रयोग कम, पर परिस्थिति के अनुकूल और प्रभावशाली होना चाहिए ।

(6) नाटकों में सिद्धांतों का विवेचन उनको नीरसता की कोटि में ले जाता है ।

उपर्युक्त कसौटियों के आधार पर प्रसाद के नाटकों को अभिनय और अस्वाभाविक बताया जाता है । कोई-कोई आलोचक (कुतर्की) यहाँ तक कह देते हैं, ''प्रसाद को नाटक लिखने ही नहीं चाहिए; क्योंकि उनके नाटकों में गीतों

और कवित्वपूर्ण संवादों और गीतों का समावेश करना और दार्शनिक प्रवृत्ति का बार-बार परिचय देना इसलिए आवश्यक था कि रूढ़ियों को तोड़कर नए जीवन की अभिव्यक्ति की दिशा को आलोकित किया जा सके ।

प्रसाद जी ने 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' में रंगमंच के विषय में लिखा है - रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखा जाए । प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो जो व्यावहारिक है । हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है ।' दूसरे स्थान पर अपने नाटकों की रंगमंचीय कसौटी बदलते हुए वे लिखते हैं - ''मेरी रचनाएँ तुलसीदास, शैदा या आगाहश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तोली जानी चाहिए, मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखने हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्रित कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मंगनी मांग लेते हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंचे वाले और दुकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती है । 'उत्तररामचरित', 'शकुन्तला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते हैं, और न कभी जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं ।''

प्रसाद की उक्त मान्यता को ध्यान में न रखते हुए आलोचकों ने उनके नाटकों पर अभिनय संबंधी निम्नलिखित दोष लगाए हैं -

1. प्रसाद के नाटकों में 'सहसा' प्रवेश का आधिक्य है जो अस्वाभाविक है ।

2. लम्बे स्वगत कथनों का बाहुल्य है, जो अभिनय में कठिनाई उत्पन्न करते हैं ।

3. व्याख्यान-पद्धति के लम्बे-लम्बे कथोपकथन जो दार्शनिकता से भी पुष्ट हैं-अपनी नीरसता और अस्वाभाविकता ही दर्शकों पर छोड़ते हैं ।

4. भाषा पात्रानुकूल नहीं है । तत्समता अधिक होने के कारण दुरूहता अधिक आ गई है ।

5. पात्रों की संख्या का बाहुल्य है ।

6. गीतों की अधिकता और दार्शनिक विचारधारा का निर्वाह होने के कारण वे सामान्य प्रेक्षक के स्तर के नहीं रह गए है ।

7. प्रसाद के नाटकों में संकलनत्रय का अभाव है, इसलिए अधिक लम्बे हैं, जो तीन चार घण्टे में अभिनीत नहीं हो सकते ।

8. नाट्यशास्त्र के अनुसार - वर्जित दृश्यों हत्या का जैसे युद्ध आदि का उनमें प्रयोग है ।

प्रसाद के नाटकों के इन दोषों का पुनर्विचार होने पर हम देखेंगे कि इनमें से कुछ दोष तो उनके गुणों को ही द्योतित करेंगे । क्योंकि अब तक इन दोषों को दोष समझने की एक प्रवृत्ति बनी रही है, इनपर गंभीरता से पुनर्विचार नहीं हुआ है । पुनर्विचार करके हम देखते हैं कि उनके ये दोष ही गुण बनकर प्रसाद के नाटकों को पाठ्य नाटकों की कोटि में ले जाते हैं । सचमुच दो एकदोष हैं भी वे इसलिए दोष नहीं माने जा सकते कि यदि रंगमंच की प्रत्येक सावधानी का ध्यान नाटककार ही रखें तो फिर एक कुशल सूत्रधार का कार्य क्या रह जाता है ? सचमुच एक मर्मज्ञ और कुशल सूत्रधार अनभिनेय नाटक को भी अभिनेयता के अनुकूल बनाने में समर्थ हो सकता है फिर प्रसाद के नाटक तो रंगमंच के बहुत अधिक निकट हैं । उनके नाटकों में रंगमंच के अनुकूल निम्नलिखित गुण हैं -

1. क्रिया व्यापार का वेग उनके अधिकांश नाटकों में दिखाई देता है - विशेष रूप से चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त और ध्रुवस्वामिनी ।

2. प्रसाद के नाटकों का आदि और अन्त बड़ा ही मनोहारी और कलापूर्ण रहता है जो प्रभाव की दृष्टि से बहुत अच्छा है ।

3. प्रासंगिक कथानक चमत्कारपूर्ण दिखाई देते हैं ।

4. रसों की पूर्ण निष्पत्ति उनके प्रमुख नाटकों में देखने को मिलती है, जैसे - चन्द्रगुप्त नाटक में शृंगार और वीर का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है ।

5. सम्पूर्ण नाटक में प्रभाव की दृष्टि से अखण्डता का दिग्दर्शन होता है । इसी से प्रभावान्विति उनके नाटकों की प्राण स्वरूप हो गई है ।

6. उनके नाटकों की भाषा एकरूपता और दार्शनिकता के स्पर्श से सांस्कृतिक-चित्रण इस बात को प्रकट करता है कि प्रसाद जी ने अपने नाटक विशिष्ट बुद्धि के एवं परिष्कृत विचारधारा वाले पाठकों और प्रेक्षकों के लिए बनाए थे ।

7. फिर सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो नाटककार 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे पूर्ण अभिनेय रूपक की रचना कर सकता है, वह रंगमंचीय परिस्थितियों में से कैसे अनभिज्ञ हो सकता है । रह कुछ दोष उनका । परिष्कार करके उन्हें अभिनय योग्य बनाया जा सकता है । इसमें सूत्रधार का सहयोग अपेक्षित है । संवादों का लाघव वस्तु विस्तार को संक्षिप्त करना, गीतों के पूर्वांश अथवा दो-चार पंक्तियों का गाया जाना, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को अभिनयात्मकता की ओर मोड़ना और दृश्य विभाजन का क्रम स्वानुकूल करना । ऐसा करने के लिए मर्मज्ञ निर्देशक होने के साथ कुशल अभिनेता की भी आवश्यकता है । तभी तो उनके नाटकों की आत्मा सजीव रहकर रसास्वादन में सहयोगी सिद्ध हो सकेगी ।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों के काव्य शास्त्रों में नाटक को साहित्य की एक दृश्य विधा माना गया है । इस मान्यता के अनुसार किसी नाटक की श्रेष्ठता और सफलता का मानदण्ड यह है कि उसे रंगमंच पर सहज-सरल परन्तु प्रभावशाली ढंग से अभिनीत किया जा सके । जो नाटक रंगमंच पर अभिनय की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, नाट्य-मर्मज्ञ और रंगकर्मी उसे नाटक तक मानने को तैयार नहीं होते । उसे मात्र सम्वाद-बल्कि वार्तालाप योजना कह कर उपेक्षिंत कर देते हैं । इस अपेक्षा से बचने के लिए आवश्यक है सर्जक कलाकार नाटक-रचना के समय रंगमंच और अभिनय की सभी सम्भावनाओं का पूर्णतया ध्यान रखकर ही सृजन करे । इन तथ्यों के आलोक में रंगमंच और अभिनय क़ी दृष्टि से किसी नाटक में अग्रलिखित तत्त्वों, तथ्यों और स्थितियों आदि का रहना आवश्यक माना गया है :

सर्वप्रथम कथानक की बात आती है । रंगमंच पर अभिनय नाटक के कथानक का संबंध सीधे मानव जाति के व्यवहार जीवन के साथ जुड़ा होना चाहिए ताकि वह दर्शकों को सीधे प्रभावित कर सके । दूसरे, कथानक का कोई दार्शनिक पक्ष रहते हुए भी उसे इस सरल ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि दर्शकों को उसे समझने के लिए माथापच्ची न करनी पड़े, बल्कि अभिनय देखने के साथ-साथ ही उसे हृदयंगम करता जाए । अर्थात् जहाँ तक संभव हो सके, कथानक सरल और स्पष्ट ही रहना चाहिए । तीसरे कथानक का अंकों दृश्यों में विभाजन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि दृश्य रूप की योजना या मंच-योजना सरल हो, प्रत्येक दृश्य के बाद मंच की साज-सज्जा में कोई

भारी परिवर्तन न करना पड़े । इस दृष्टि से एक ही दृश्य विधान या नाटकीय सैट-योजना को उत्तम स्वीकार किया जाता है । इसी सुविधा के लिए ही प्राय: रंगमंचीय नाटकों में स्थान, समय और कार्य (संकलनत्रय) की एकता बनाए रखने पर विशेष बल दिया जाता है ।

कथानक की रूपरेखा और योजना के बाद क्रम आता है उससे संबंधित पात्र योजना और उनके चारित्रिक विकास दिखाने का । इस दृष्टि से मान्यता है कि कथानक की मूल आवश्यकता और मांग के अनुसार अभिनेय नाटक में कम-से-कम पात्रों की योजना की जानी चाहिए । ऐसा करने से एक तो पात्रों की पहचान बनी रहना सरल होता है । दूसरे उनका चारित्रिक विकास भी ठीक और सरल ढंग से दिखाया जा सकता है । पात्रों की भीड़ में उनकी पहचान और चारित्रिक विकास के कई पहलुओं के खो जाने का भय बना रहा करता है । पात्र ऐसा होना चाहिए कि चाहे वह एक क्षण के लिए ही रंगमंच पर क्यों न आए, पर अपना एक स्थायी प्रभाव अवश्य छोड़ जाए । तभी वह रंगमंच की दृष्टि से सफल-सार्थक माना जाता है ।

पात्रों के बाद सम्वादों का क्रम आता है । नाटक अपनी मूल शारीरिक अवधारणा में एक प्रकार से सन्तुलित संवादों का ही जमघट है । इसी कारण संवादों को नाटक का मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किया गया है । नाटककार नाटक में संवादों के माध्यम से ही कथानक की योजना दिखा उसमें आनेवाले पात्रों का चरित्र-चित्रण भी करता है । देशकाल और वातावरण का चित्रण भी प्राय: संवादों से ही करना पड़ता है । इसी प्रकार समस्याओं, प्रश्नों, उद्देश्य-संदेश आदि सभी बातों की योजना और स्पष्टीकरण नाटकों में संवादों द्वारा ही संभव हुआ करता है । इस दृष्टि से रंगमंच पर अभिनय नाटक के संवाद सरल, संक्षिप्त भाव विचार को व्यक्त कर पाने में समर्थ, रोचक, प्रवाहपूर्ण और प्रभावी रहने चाहिए । संवाद योजना करते समय दार्शनिक गंभीरता से बचे रहना ही उचित माना जाता है । संवादों की भाषा भी अधिक गहन न होकर कथ्य-कथानक के अनुरूप सरल, स्पष्ट और नाटककार के मन्तव्य को प्रभावी ढंग से दर्शकों तक पहुँचा पाने में समर्थ होनी चाहिए । संक्षिप्तता तथा सरलता को इस ओर प्रभाव की दृष्टि से ही संवाद और उनकी भाषा-योजना का प्रमुख आधार माना गया है ।

इसके अतिरिक्त नाटक अभिनय को प्रभावी करने के लिए उचित ढंग से रंगमंच की सज्जा का भी बहुत महत्त्व होता है । इसी से रंगमंच पर देशकाल के अनुरूप उचित बाह्य वातावरण की दृष्टि हो पाती है । स्वभावत: बाह्य वातावरण आन्तरिक वातावरण और परिस्थितियों को उजागर करने में विशेष सहायक बना करता । अत: कथ्य कथानक के अनुरूप उचित मंच-सज्जा द्वारा यथार्थ परिवेश का निर्माण आवश्यक होता है । इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण, कथानक के विकास और नाटक का समग्र प्रभाव दिखाने में भी विशेष सहायता मिलती है । मंच-सज्जा के साथ-साथ पात्रों की देशकाल और कथ्य-कथानक के अनुरूप रूप-सज्जा भी बहुत आवश्यक है । उसका प्रभाव देशकाल को तो स्पष्ट करता ही है, पात्रों के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण और पहचान में भी सहायक हुआ करता है । इससे विशिष्ट युगीन प्रभाव को उचित अभिव्यक्ति मिल पाती है ।

किसी सफल रंगमंचीय एवं अभिनेय नाटक में प्रमुखत: उपरिवर्णित तथ्यों और तत्त्वों का रहना, उनपर विशेष ध्यान देना नितान्त आवश्यक हुआ करता है । नाटक में पात्र शुष्क-नीरस तथ्य ही रहने चाहिए, मनोरंजकता भी आवश्यक है । शुष्क-नीरस तथ्य भी उचित परिवेश की सृष्टि कर अच्छे अभिनय द्वारा सरस और रंजक बनाए जा सकते हैं । यह भी ध्यातव्य है कि आज नाटकों का उद्देश्य दो-तीन घंटे बैठकर समय बिताना और मात्र मनोरंजन करना ही नहीं रह गया, उसे सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति का सबल दृश्य माध्यम भी माना जाता है । अत: अभिनेय

नाटक का उद्देश्य पूर्ण होना, व्यवहार-जीवन की समस्याओं को रूपाकर दे पाने में समर्थ होना भी बहुत आवश्यक है । इन्हीं मुख्य तत्त्वों, तथ्यों और लक्षणों के आलोक में हम 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रंगमंच पर अभिनेयात्मक सफलता-असफलता का उचित निर्णय कर सकते हैं ।

'ध्रुवस्वामिनी : रंगमंच और अभिनय-दृष्टि

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक जयशंकर प्रसाद का सबसे अन्तिम नाटक है । इस नाटक के रचनाकाल तक उनकी नाट्यकला में काफी परिवर्तन और निखार आ गया था । शैली-शिल्प में यह निखार विशेष रूप से दर्शनीय है । इस परिवर्तन और निखार ने ही उनके पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में इस नाटक को रंगमंच के अधिक करीब ला दिया है । परिणामस्वरूप यह नाटक एक सुदृढ़ और साधन सम्पन्न रंगमंच पर तथा सुशिक्षित, साहित्यिक रुचियों वाले प्रेक्षकों के समक्ष अभिनय के योग्य अवश्य बन पड़ा है । पर नाटकों के प्रेक्षक मात्र सुशिक्षित एवं साहित्यिक कवियों वाले लोग ही नहीं हुआ करते, बल्कि सामान्य नागरिक जन भी हुआ करते या हो सकते हैं । इस दृष्टि से नाटक का कथ्य-कथानक और विशेषकर सम्वादों की विशुद्ध साहित्यिक भाषा, इसके साथ-साथ तीन-तीन नितान्त भिन्न दृश्यों की योजना आदि बातें रंगमंच पर इसके सफल और प्रभावी अभिनय में बाधक ही बनने वाली है, साधक नहीं ।

नाटक का कथानक यों सरल, सीधा और स्पष्ट है, वर्णित समस्या और प्रश्न भी परिचित एवं सुबोधगम्य है । कथानक की उपयुक्त योजना, उद्घाटन, विकास, चरमोत्कर्ष और चरम परिणति भी निश्चय ही काफी सरल, स्वाभाविक और प्रभावी है । राजनीतिक षड्यंत्रों की पृष्ठभूमि वाले इस कथानक में प्रेम-प्रसंग एक ओर जहाँ उसकी कठोरता का परिहार करते हैं, वहाँ उनके प्रभाव से पर्याप्त मनोरंजकता एवं सरसता का संचार भी होता है, उसपर हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि के प्रसंगों की योजना भी बलात् हँसने-हँसाने को बाध्य करती है । पर कथानक का गठन और विकास जिस प्रकार की भाषा भंगिमा में किया गया है, वह आम दर्शक के लिए नहीं रह जाता । उचित नाटकीयता, मार्मिक प्रसंगों की योजना, कथ्य-कथानक की आत्मा को तरलायित करके प्रकट करनेवाले गीत मद्यपान और नृत्य आदि के रोचक रंजक दृश्य भी विद्यमान है । पर भाषायी साहित्यिक उच्चता रंगमंच पर नाटक के अभिनय की सफलता के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न अंकित कर जाती है ।

कथानक के बाद पत्र-योजना और उनके चरित्र-चित्रण, पहचान का क्रम आता है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में इस दृष्टि से भी अभिनेय तत्त्व यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है । पात्र नाटक के कथ्य-कथानक की आवश्यकता और माँग के अनुरूप कम से कम ही योजित किए गए हैं । उनकी पहचान में भी कोई कठिनाई सामने नहीं आती । अधिक या थोड़े समय के लिए आकर प्रत्येक पात्र नाटक के कथ्य-कथानक के अनुरूप चारित्रिक-विकास पाकर अपना एक प्रभाव छोड़ जाता है । पर यह तभी संभव हो पाता है जब नाटक का दर्शक पात्रों के भाषिक या वाचिक अभिनय को भी समझ पाने में समर्थ होता है । यदि यह सामर्थ्य भी रहती, तो निश्चय ही इस दृष्टि से भी इस नाटक को रंगमंच पर अभिनय के अधिक योग्य कहा जा सकता था ।

सम्वाद नाटक के मूल विषयक, आत्मा और शरीर स्वरूप के उजागर करनेवाले माने जाते हैं । संवाद संक्षिप्त, भाव-विचार को व्यक्त कर पाने में समर्थ, रोचक और भावपूर्ण होने चाहिए । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की संवाद योजना में निश्चय ही ये सभी गुण विद्यमान हैं । वे कथ्य-कथानक को उजागर कर उन्हें गति-दिशा तो प्रदान करते ही हैं, वक्ता पात्रों के अन्तः बाह्य चरित्र को समझने में भी सब प्रकार से सहायक होते हैं । पर कठिनाई यहाँ भी संवादों की अपनी भाषा की ही है । कहीं-कहीं तो संवादों की भाषा काफी लाक्षणिक भी हो गई है । उनमें विशिष्ट प्रकार

की व्यंजना शक्ति या ध्वन्यात्मकता भी कार्यरत दिखाई देती है । ये सारी बातें नाटक के सभी प्रकार के दर्शकों की दृष्टि से रंगमंच पर अभिनय में बाधक ही स्वीकारी जाती है । यों विशिष्ट साहित्यिक रुचियों वाले नाटक-प्रेक्षकों की दृष्टि से संवादों को सम्पूर्णत: अभिनेय एवं रंगोपयुक्त कहा जा सकता है ।

देशकाल की परिस्थितियों और वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए ध्रुवस्वामिनी नाटक में जिस प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों की उद्‌भावना की गई है, वे निश्चय ही गुप्तकालीन भारत की गरिमा के उपयुक्त है, पर रंगमंच पर उनको सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर पाना शायद संभव नहीं और उन सबके न रहने पर नाटककार का मन्तव्य उजागर नहीं हो पाता । पर्दो-विग्स आदि का प्रयोग सभी कुछ को अस्वाभाविक और कृत्रिम बना कर मजा किरकिरा कर सकता है, जबकि आधुनिक तकनीक के अनुसार मात्र रंग-प्रकाश का प्रयोग अभिप्रेत को उजागर नहीं कर सकता । अत: इस दृष्टि से भी रंगमंच पर ध्रुवस्वामिनी का अभिनय एक प्रश्न ही बना रहता है ।

बाकी रहा रंग या मंच-सज्जा और पात्रों की रूप-सज्जा आदि । मंच-सज्जा के संबंध में तो ऊपर कहा जा चुका है, हाँ रूप सज्जा कोई विशेष कठिन कार्य नहीं है । कुशल निर्देशक उसकी परिकल्पना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में सहज ही कर सकता है । युद्ध आदि का एकाध दृश्य भी सरलता में प्रस्तुत किया जा सकता है । स्थान, समय और कार्य की एकता बनाए रख पाना ऐतिहासिक रुचि एवं कार्यों वाले नाटकों में बड़ा कठिन हुआ करता है । सो यहाँ भी संभव नहीं । हाँ, कार्य-संगठन या एकत्व और उसका प्रभाव यहाँ अवश्य ही यथेष्ठ मात्रा में विद्यमान है ।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के अनुसार इस नाटक के रंगमंच पर सफल अभिनय के मार्ग में बाधक मुख्य दो ही बातें रेखांकित की जा सकती हैं - एक भाषा-संबंधी और दूसरी तीन-तीन दृश्य-योजनाओं में प्राकृतिक वातावरण के सृजन-संबंधी । इन दो में से भी पहली अर्थात् भाषा की कठिनाई हमारे विचार में अधिक है । दूसरी कठिनाई तो रंग-प्रकाश आदि की सहायता से काफी कुछ दूर की जा सकती है । इस प्रकार कुल मिलाकर कुछ परिश्रम करके कुशल रंगकर्मी इस नाटक को प्रभावी ढंग से रंगमंच पर अभिनीत कर सकते हैं । इसकी भाषा को भी कुछ सरल बनाया जा सकता है । नाटक में रंगमंच और अभिनेयता की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं । अभिनय होने पर नाटक प्रबुद्ध प्रेक्षकों को काफी प्रभावित कर सकता है, उन्हें सोचने-विचारने के लिए भी बहुत कुछ दे सकता है । यदि प्रसाद जीवित रहते, तो निश्चय इसमें अभिनेयता लाते ही, अन्य उत्कृष्ट अभिनेय नाटक भी हिन्दी साहित्य और रंगमंच को दे पाते ।

22.3 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी की रंगमंचीयता का उल्लेख कीजिए ।
2. हिन्दी नाटक और रंगमंच के मानक स्वरूप का वर्णन कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी की समस्याएँ

पाठ संरचना

23.0 उद्देश्य
23.1 परिचय
23.2 ध्रुवस्वामिनी की समस्याएँ
23.3 सामाजिक समस्याएँ
23.4 राजनीतिक समस्याएँ
23.5 अभ्यास के प्रश्न

23.0 उद्देश्य

प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य की विभूति हैं । अन्य साहित्यविधाओं की तुलना में अपेक्षाकृत निर्धन हिन्दी नाट्य क्षेत्र इनसे समृद्ध हुआ । विधागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का महत्त्व विवादास्पद रहा है । प्रसाद ने अपने अन्तिम नाटक में हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की कला को जहाँ छोड़ा, वहाँ से आगे इसका स्वाभाविक विकास हुआ । ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने प्रभावान्विति की दृष्टि से चयनात्माकता का सहारा लेकर इतिहास के विस्तार को समेटा और संतुलित वस्तुविन्यास किया । प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी की समस्याओं से पाठकों को परिचित कराना है ।

23.1 परिचय

एक सजग और युगद्रष्टा कलाकार के समान स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने अपने इस नाटक ध्रुवस्वामिनी में अंग्रेजी साहित्य की उस उक्ति को चरितार्थ किया है कि साहित्य समाज का दर्पण हुआ करता है । जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को निश्चय ही जीवन्त समाज का जीवन्त दर्पण बनाकर ही प्रस्तुत किया है ।

23.2 ध्रुवस्वामिनी की समस्याएँ

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि नाटककार जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना करते समय अपने पहले रचे नाटकों की तुलना में नए पनप रहे नाट्य-शिल्प का यहाँ अधिक ध्यान रखा, शिल्प की दृष्टि से अपने इस नाटक को अधिक से अधिक आधुनिक बनाने का सचेष्ट प्रयास किया, फिर भी विद्वान आलोचक इसे आधुनिक समस्या नाटकों की श्रेणी में नहीं रखते । यह ठीक है कि शाश्वत तथ्यों के सन्दर्भों में नाटककार प्रसाद ने

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में भारतीय समाज की एक ज्वलन्त आधुनिक समस्या – 'तलाक' या 'नारी-मुक्ति' की समस्या का चित्रण बड़े सजीव और सटीक ढंग से किया है; परंतु ऐसा कर देने से ही कोई नाटक समस्या-नाटक नहीं बन जाया करता है । समस्या-नाटक की अपनी यथार्थवादी योजना और कला-शिल्प है, जिसमें भावना, भावुकता, काव्यमयता आदि के लिए कतई स्थान नहीं रहता । इसके विपरीत ऐसे नाटक में एक प्रकार के विशिष्ट दार्शनिक या विचारक का दृष्टिकोण रहा करता है, बौद्धिक तत्त्वों और तर्क-वितर्कों के संघर्ष की प्रधानता प्रायः जीवन के यथार्थ धरातल पर रहा करती है । परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में इस प्रकार की बौद्धिक, विचार-प्रधान तार्किकता का तो अभाव है ही; भावना, भावुकता और काव्यमयता का भी आधिक्य है । यहाँ तक कि समस्या-नाटक के लिए नितान्त वर्जित घोषित गीतों की भी 'ध्रुवस्वामिनी' में भरपूर योजना मिलती है । ये सभी योजनाएँ इसे समस्या-नाटक नहीं रहने देतीं ।

समस्या-नाटक के शैली-शिल्प की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' में अंक भी तीन हैं और उसका दृश्य विधान भी उतना कठिन नहीं, फिर भी उसे यथार्थवादी समस्या-नाटक के अनुरूप नहीं कहा जा सकता । वह इसलिए कि प्राकृतिक उपकरणों के प्रयोग के कारण उस सारी योजना में भी एक प्रकार की काव्यमयता का अन्तःसंचार हो गया है कि जो जीवन के जटिल यथार्थ के अनुरूप नहीं है । इसी प्रकार समस्या नाटक में बाह्य द्वन्द्व का प्रायः अभाव रहता है, आन्तरिक द्वन्द्व की सघनता ही वहाँ प्रमुख हुआ करती है; जबकि 'ध्रुवस्वामिनी' में उतना आन्तरिक द्वन्द्व नहीं प्रखर हो पाता कि जितना बाह्य द्वन्द्व । बल्कि यों कहा जा सकता है कि इस नाटक में बाह्य राजनीतिक द्वन्द्व ही अधिक और प्रमुख है । वही नाटक की समस्त गतिविधियों का संचालन कर अन्त में फलागम या परिणाम का कारण बनता है । इससे साथ-साथ समस्या-नाटक में प्रस्तुत समस्या का समाधान भी प्रायः नहीं दिया जाता, जबकि 'ध्रुवस्वामिनी' में छोटी-बड़ी प्रत्येक समस्या का समाधान उपलब्ध कर दिया गया है । ये सारी बातें भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के एक सफल समस्या-नाटक होने के विपरीत ही बैठती है ।

इन सारे विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' तत्त्व और शैली-शिल्प की दृष्टि से तो समस्या नाटकों की श्रेणी में नहीं आता । हाँ, प्रस्तुत समस्याओं का चित्रण इसमें समस्या-नाटक माने जानेवाले नाटकों से भी कहीं अधिक सजीव तथा प्रभावी ढंग से हो पाया है । विशेषता यह भी है कि नाटककार ने समसामयिक समस्याओं को ऐतिहासिक पृष्ठों में खोजकर, ऐतिहासिक कथानक और परिपार्श्वों में जड़कर उन्हें और भी तीव्र व्यवहार्य एवं उत्तेजक बनाकर, उनकी ओर जन समाज का ध्यान आकर्षित करने में सफलता पाई है । समस्या नाटकीय दृष्टि से इस तथ्य को अवश्य ही इस नाटक को एक विशिष्ट उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है ।

ध्रुवस्वामिनी : समस्याएँ

एक सजग और युगद्रष्टा कलाकार के समान स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने अपने इस नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में अंग्रेजी साहित्य की इस उक्ति को चरितार्थ किया है कि साहित्य समाज का दर्पण हुआ करता है । वास्तविक कलाकार साहित्य के इस उद्देश्य के साथ-साथ अपने-यानी साहित्यकार के साहित्य एवं जीवन के प्रति कर्त्तव्यों से भी भली-भाँति परिचित रहा करता है । यथासम्भव उन कर्त्तव्यों को निभाकर अपने सृजन (साहित्य) को सच्चे अर्थों में जीवन और समाज का दर्पण बना दिया करता है । अपने समकालिक जीवन की कुछ समस्याओं को समझ, उन्हें सजीव ढंग से चित्रित करके नाटककार जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को निश्चय ही जीवन्त समाज का जीवन्त दर्पण बना कर ही प्रस्तुत कियाहै । मुख्य रूप में, 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में जिन समस्याओं का चित्रण किया गया है, उन्हें निम्नलिखित दो प्रमुख वर्गों में रेखांकित किया जा सकता है :

1. सामाजिक समस्याएँ
2. राजनीतिक समस्याएँ

23.3 सामाजिक समस्याएँ

इस वर्ग की समस्याओं में प्रमुख हैं शाश्वत नारीत्व की भावना के अन्तर्गत जीवन और समाज में नारी-पुरुष के सम्बन्धों का प्रश्न । इसी के अंतर्गत नारी की मुक्ति या तलाक देने के अधिकार को समस्या और नारी के पुनर्विवाह के अधिकार की समस्या भी आ जाती है । सभी में मूल भाव या स्थायी भाव नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध ही है । यह समस्या आज या किसी एक युग की न होकर अनन्त काल से चली आ रही है । अन्य देशों की बात यदि जाने भी दें तो भारत में नारी को जन्म के बाद पहले पिता, विवाह के बाद पति और तत्पश्चात् पुत्र आदि के रूप में किसी न किसी पुरुष के अधीन रह कर ही अपना जीवन बिताने की बाध्यता ढोनी पड़ी है । आज भी स्थिति प्रायः इसी प्रकार की ही है । अतः इस समस्या को सार्वजनिक और सार्वकालिक उचित ही स्वीकारा जा सकता है । सामान्यतया नारी-पुरुष को जीवन-गाड़ी के दो पहिये कहा गया है । यह भी सत्य है कि दोनों के पारस्परिक सहयोग के बिना जीवन की गति और विकास कभी संभव नहीं हो या रह सकते । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी और सुख-दुख, हार-जीत, निर्माण-ध्वंस के साथी हैं । फिर भी नारी के कोमलांग और दुर्बल होने के कारण चिरन्तन काल से पुरुष उसपर अपना आधिपत्य जमाते आया है । बीच में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि नारी को मात्र भोग्या और पुरुष की इच्छा का खिलौना बनाकर छोड़ दिया गया । पर जैसे-जैसे नारी-चेतना का विकास हुआ, उसमें नवजागृति और अपने स्वत्त्वाधिकारों की रक्षा की चेतना जागी, नारी-पुरुष के सम्बन्ध एक समस्या बनते गए । बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक जागृति ने तो इस समस्या को और भी उग्र रूप से सामने ला खड़ा किया । पश्चिम की देखा-देखी भारतीय नारी भी आर्थिक और सभी प्रकार के पुरुष समाज द्वारा आरोपित बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी । साहित्यकारों ने भी नारी की इस छटपटाहट को स्वर और स्वरूप देने का प्रयत्न किया । आलोच्य नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' उसी प्रकार के प्रयासों का एक परिणाम है ।

सन् 1933 के आसपास जब यह नाटक रचा गया, उस समय नारी शिक्षा का प्रचार और आर्थिक स्वावलंबन के आन्दोलन तो चल ही रहे थे, विशेष परिस्थितियों में पुरुष द्वारा शोषित-पीड़ित नारी को तलाक देने के अधिकार की बात भी पश्चिम की देखादेखी भारत में होने लगी थी । समाज सुधारक और उसे जुड़े राजनीतिज्ञ तो एक सीमा तक नारी के इस अधिकार को मान्यता देने के लिए कटिबद्ध हो गए थे, परन्तु धर्म और शास्त्र बहुत आड़े आने लगे थे । तब नारी-पुरुष के संबंधों, तलाक और नारी में पुनर्विवाह की समस्याओं के उत्तर एवं समाधान खोजने के लिए प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास, धर्मग्रंथों और धर्म की वास्तविक मान्यताओं को टटोला और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के माध्यम से, एक नारी-ध्रुवस्वामिनी के उत्पीड़न-अवमानना की कहानी कह कर उसकी मांगों को बहुत बड़ा सम्बल प्रदान किया ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का आरंभ एक विवाहित नारी के प्रति पुरुष-पति के अपरिचित व्यवहार को लेकर होता है । ध्रुवस्वामिनी जो विवाह से पहले शकराज की मंगेतर होने पर भी कुमार चंद्रगुप्त में अनुरक्त रहती है, राजनीतिक सन्धि-शर्तों के कारण गुप्तवंश में आकर रामगुप्त से ब्याही जाती है । ब्याह के बाद अपने अतीत का सबकुछ भुलाकर, पूर्ण समर्पित भाव से वह रामगुप्त की पत्नी बन शान्ति से जीना चाहती है । पर उसके त्याग-बलिदान, समर्पण और

महत्त्व का फल उसे क्या मिल पाता है ? पति रामगुप्त का सन्देह, चरित्रहनन का प्रयत्न और बन्दियों जैसा जीवन जीने की बाध्यता । पति का सहचर्य तो क्या, उसके साथ बातचीत तक कर पाने का सुयोग उसे नहीं मिल पाता । उस पर पति उसे मात्र उपहार की वस्तु मान एक अन्य पुरुष को उपहार रूप में अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए दे डालना चाहता है, तो ऐसी स्थिति में स्वभावत: प्रश्न उठता है कि बेचारी विवश नारी क्या करे ? अपने अव्यवस्थित जीवन, व्यक्तित्व, अस्तित्व और सतीत्व की रक्षा कैसे करे कि जो उसकी अमूल्य निधि है ? प्रश्न का उत्तर या तो यह हो सकता है कि नारी पुरुष की पाशविक आज्ञाओं को भी स्वीकार कर नरक की-सी यातनाएँ भोगती रहे, या फिर साहसपूर्वक विद्रोह का मार्ग अपना इस प्रकार के पुरुष-पति से अलग होकर अपने अस्तित्व-सतीत्व की रक्षा करे । आजकल इस दूसरे मार्ग को ही प्रश्रय मिल रहा है और ध्रुवस्वामिनी नाटक में नाटककार प्रसाद ने भी नारी-ध्रुवस्वामिनी को इसी मार्ग पर चलाया है ।

इस मार्ग पर चलने से पहले ध्रुवस्वामिनी अपने पति रामगुप्त को वंशसज, धार्मिक-सामाजिक सुरक्षा के वचन देने की बातों की दुहाई देती है । अपने को रक्षणीया मानकर रक्षा की याचना करती है, फिर कुछ विद्रोही स्वर में व्यंग्य भी करती है कि "मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदाय से ही बढ़ा है ?" पर उसकी इस चुनौती का रामगुप्त जैसे निर्लज्ज पुरुष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । तब ध्रुवस्वामिनी सामाजिक और धार्मिक अवलम्बों का सहारा ले गुहार करती हुई कहती है कि "मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है ?" तो उसे अनार्य रामगुप्त का उत्तर मिलता है कि "परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी । मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ दिया होगा । उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर । (सिर हिलाकर) कदापित नहीं ।" इस प्रकार अनमेल अपरिचित विवाह के नाम पर नारी-पुरुष के संबंधों की समस्या अपनी समग्र आन्तरिक विकरालता के साथ उभर कर सामने आ जाती है । पीड़ित नारी ध्रुवस्वामिनी को भी पुरुष समाज के प्रति अपना एक यथार्थ किन्तु विघटनकारी दृष्टिकोण बना लेने को बाध्य होना पड़ता है । वह कहती है - "मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।" फिर भी अपनी रक्षा के लिए अनुनय-विनय करती ही रहती है । पति से कहती है कि "राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ ।. ...मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है ।.....मैं तुम्हारी होकर रहूँगी । राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को - पुरुष को बहुत सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता ।" इतनी हीनता स्वीकार कर लेने पर भी नारी या ध्रुवस्वामिनी को निहितस्वार्थी पुरुष या पति रामगुप्त की आज्ञा से शक-शिविर में जाना पड़ता है । वहाँ एक अन्य पुरुष (चन्द्रगुप्त) के वीरत्व के कारण उसके मान-सम्मान की रक्षा हो सकी, यह एक अलग बात है ।

नाटक के दूसरे अंक में कोमा-शकराज का प्रणय-प्रसंग और उसका हृदय द्रावक अन्त दिखाकर भी नाटककार ने नारी-पुरुष के संबंधों की इस मूल समस्या को ही उजागर किया है । नाटककार ने प्रगट किया है कि नारी चाहे पत्नी हो या प्रेमिका, अपने अन्य निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए पुरुष हमेशा उसके साथ खिलवाड़ ही करता आया है । परिणामस्वरूप अक्सर कोमा के समान उसे प्राणों से भी हाथ धोने पड़े हैं । पर जो जागरूक नारियाँ मृत्यु के आलिंगन से इनकार कर अपनी इच्छा का जीवन जीना चाहती हैं, समस्या उनके लिए खड़ी होती है । नाटककार ने समस्या का समाधान तीसरे अंक में मन्दाकिनी जैसी नारी, पुरोहित जैसे धर्म के प्रतिनिधि और परिषद् जैसी सामाजिक संस्था के माध्यम से, इनके सामने ही प्रस्तुत किया है । विवाह-बन्धन की व्याख्या करते हुए पुरोहित कहता है कि

''स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है । यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है ।'' और फिर वह परिषद् के समक्ष घोषणा करता है कि ''विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्ति पूर्ण बन्धन में बाँध दिया है । धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता ।.....यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं ।....मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'' धर्मशास्त्र की इस आज्ञा को परिषद् के रूप में समाज और राजनीति का समर्थन भी प्राप्त हो जाता है । परिणामस्वरूप नारी को उसके अधिकार प्राप्त होने के साथ-साथ पुरुष-नारी सम्बन्धों की एक सर्वसम्मत, सर्वमान्य व्याख्या भी हो जाती है । इस प्रकार यह प्रमुख समस्या एक उचित समाधान नाटक में पा जाती है ।

23.4 राजनीतिक समस्याएँ

शाश्वत नारीत्व के प्रश्न के अन्तर्गत नारी-पुरुष-संबंध, मुक्ति या तलक के अधिकार और नारी के पुनर्विवाह के अधिकार की समस्याओं के साथ-साथ नाटक में कुछ राजनीतिक प्रश्न और समस्याएँ भी उठाई गई हैं । इस दृष्टि से नाटककार ने नाटक में कई स्थानों पर कुछ राजनीतिक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं । एक स्थान पर मन्दाकिनी कहती है - ''सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूल पड़ती है ।'' इसका अर्थ है कि नाटककार राजनीति को छल-कपट का खेल ही मानता है और यह खेल युगों से खेला जाता रहा है, आज भी खेला जा रहा है और नाटककार के जीवनकाल में भी खेला जा रहा था । इसी प्रकार शकराज द्वारा ध्रुवस्वामिनी के साथ-साथ गुप्त सामन्तों की स्त्रियों की भी माँग के समय ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के सामने आमात्य शिखर स्वामी अपनी राजनीतिक मान्यता बताता है :

''राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है । उसके लिए राजा, रानी, कुमार और आमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है : किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है ।'' पर जब वीरतापूर्ण कार्यों या अन्य उपायों से काम न लेकर एक अयोग्य और हीन वृत्तियों वाला राजा या राजनेता मात्र अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए ही रानी और भाई (कुमार चन्द्रगुप्त) का विसर्जन करने पर तुल जाए, ऐसे राजा या राजनेता का भी समर्थन कर देना चाहिए ? नहीं । प्रसाद जी ने ऐसे क्षण में चन्द्रगुप्त को सक्रिय दिखाकर इस प्रकार की घोटाले वाली दूषित, षड्यंत्रपूर्ण और निहित स्वार्थों वाली राजनीति का विरोध किया है । उस प्रकार की प्रतिशोधात्मक राजनीति का भी कि जिसे अपना कर शकराज किसी विवाहिता नारी (ध्रुवस्वामिनी) को अपनी विलास-वासना का शिकार बनाना चाहता है । तभी तो नाटककार ने कोमा से शकराज को कहलवाया है कि ''आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो ?'' राजनीतिक को सब प्रकार के अनर्थों की जड़ मान कर, नैतिकता-हनन की आड़ मानते हुए ही नाटककार ने आचार्य मिहिरदेव के मुख से भी कहलवाया है - ''राजनीति ? राजनीति ही मनुष्य के लिए सब कुछ नहीं है । राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्वमानक के साथ व्यापक संबंध है । राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण-भर के लिए तुम अपने को चतुर समझने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करनेवाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है ।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटककार प्रसाद राजनीति के प्रति कोई उच्च दृष्टिकोण नहीं रखते ।

उसे हृदयों से जोड़ने का साधन नहीं, बल्कि जुड़े हृदयों में दरार डालने वाला मुख्य कारण मानते हैं । इन्हीं मान्यताओं के आधार पर ही 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद जी ने कुछ राजनीतिक समस्याओं को उरेहा है ।

पहला राजनीतिक प्रश्न यह है कि क्या सभी प्रकार से अयोग्य, अशिष्ट और भ्रष्ट राजनेता या नेता को सहन करना चाहिए या मिलकर उसे बदल दिया जाना चाहिए ? यह प्रश्न रामगुप्त और शिखरस्वामी के कुचक्रों के कारण ही उठता है । क्योंकि इन दोनों का आचरण, व्यवहार, गुप्त वंश की मर्यादाओं के सर्वथा विपरीत तो है ही, सामान्य मानवीय व्यवहारों के आलोक में भी निकृष्टतम है । जब राज देश पर आई विपत्ति की बात सुन भी आमात्य मण्डल की मंत्रणा-सभा में न जा मद्यमान और हीन मानसिकता में हीन गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त रहे, या फिर अपने घृणित स्वार्थों के लिए देश-कुल के गौरव की प्रतीक नारी को ही उपहार की वस्तु बना दे, तो क्या ऐसे राजा या नेता को स्वीकार किया जाना चाहिए ? वहीं, नाटक की समूची प्रक्रिया और अन्त में वृद्ध सामन्त जनों की परिषद् इस प्रश्न का उत्तर नकार में ही देती है - ''अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त साम्राज्य के पवित्र राज्य सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं ।''

जब राजा या नेता अपने अहं का शिकार होकर अपने राजत्व का अधिकार प्रदर्शित करने के लिए ओच्छे हथियारों पर उतर आए, निरीह लोगों की हत्या तक शासन मद के गर्व में करवाने लगे, तो क्या ऐसे राजा या नेता को बने रहना चाहिए ? प्रश्न का उत्तर नाटककार ने नकार में ही प्रस्तुत किया है, वह भी एक सामन्त कुमार के मुख से-''किन्तु अब यह असह्य है । राजसत्ता के अस्तित्व की घोषणा के लिए इतना भयंकर प्रदर्शन ! मैं तो कहूँगा, इस दुर्ग में आपकी आज्ञा के बिना राजा का आना अन्याय है ।''

इसी प्रकार नारी के निरीह व्यक्तित्व, सौन्दर्य और अस्तित्व को राजनीतिक शतरंज का मोहरा बनाने की परम्परागत प्रक्रिया का विरोध तो नाटक का प्रत्येक शब्द और क्रिया व्यापार करता हुआ दिखाई देता है । अत्यन्त प्राचीनकाल से ही राजनीतिक सन्धियों में नारी के आदान-प्रदान की शर्तें देखने को मिलती हैं । आज के विकासशील युग में नाटककार ने इस प्रकार की परम्पराओं को मानवता के मस्तक पर कलंक मानकर ही इसका खुला विरोध किया है ।

इस प्रकार, इस समूचे विवेचन विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' यद्यपि सफल समस्या-नाटक तो नहीं है, पर उपर्युक्त दो प्रकार की समस्याओं का नाटकीय क्रिया-व्यापार में समानान्तर पर बड़ी सुघड़ता, कलात्मकता और सफलता के साथ चित्रण किया गया है ।

23.5 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी की समस्याओं का उल्लेख कीजिए ।
2. ध्रुवस्वामिनी की सामाजिक समस्याओं का उल्लेख कीजिए ।
3. ध्रुवस्वामिनी की राजनीतिक समस्याओं का उल्लेख कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी का उद्देश्य

पाठ संरचना

24.0 उद्देश्य
24.1 परिचय
24.2 ध्रुवस्वामिनी का उद्देश्य
24.3 अभ्यास के प्रश्न

24.0 उद्देश्य

प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से स्वतंत्रता संघर्षरत अपने समाज तथा व्यक्ति के जीवन को उसके अंतर्बाह्य सभी रूपों में स्पंदित करना चाहते थे एवं मूल्यवत्ता का दिग्दर्शन करना चाहते थे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे नाट्यवस्तु को अपनी कल्पना से ऐसे नए-नए घुमाव देते थे, जिसमें मानवीय संबंधों की अनेकानेक संवेदनाएँ प्रकट होती हैं । जिन जीवन प्रसंगों के प्रति इतिहास मौन रहता है उन्हें वे अपनी कल्पना से रूप देते हैं । इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी में निहित प्रसाद के उद्देश्यों से पाठकों को परिचित कराना है ।

24.1 परिचय

प्रसाद ने भारतीय नाट्य विधान के तत्त्व और पाश्चात्य नाट्यविधान के अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर समन्वय कर एक नूतन नाट्यशिल्प का विकास किया । इस समन्वय के फलस्वरूप उनके नाटकों में पात्रों का चरित्र एवं कार्यव्यापक अधिक व्यापक भूमियों में विकसित हुआ और मानवीय संवेदना के अनेकानेक रूप प्रकाशित किए गए । प्रत्येक पात्र को प्रसाद ने एक निजी व्यक्तित्व प्रदान किया । पात्रों की भीड़ में हर पात्र की अपनी अलग पहचान प्रकट होती है । उनके पात्र न तो केवल परंपरासिद्ध नायक हैं, नहीं पूर्णत: व्यक्ति वैचित्र्य मूलक ही लगते हैं । उनमें दोनों रूपों का स्वस्थ एवं सर्जनात्मक समन्वय घटित हुआ है ।

24.2 ध्रुवस्वामिनी का उद्देश्य

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के उद्देश्य और संदेश पर विचार करने से पहले दो बातें जान लेना आवश्यक है । एक तो यह कि नाटककार जयशंकर प्रसाद को भारत के अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति अगाध श्रद्धा थी और वह भारतीय सभ्यता-संस्कृति के उदात्त गुणों के पोषक थे । वह चाहते थे कि आज का भारत भी अपने अतीत के समान ही भव्य और गौरवपूर्ण बन सके । इतना होते हुए भी वे आधुनिक, नवीन और मानवता के लिए उपयोगी बातों के विरोधी नहीं थे । अच्छी और उपयोगी बातों को अपनाने की प्रेरणा ही उन्होंने अपने विविध विधात्मक साहित्यिक रूप में लांछित नहीं होने दिया । अपने अमर काव्य 'कामायनी' में तो उन्होंने नारी को 'केवल श्रद्धा हो' बतला कर जीवन

का उच्चतम सम्मान प्रदान कर दिया । ऐसे विचारवान कवि और नाटककार प्रसाद जब कहीं भी, किसी भी तरह से नारी को पीड़ित या शोषित अपमानित होते निहारते, तो उनका मन एक प्रकार के सात्विक आक्रोश से भर उठता । फिर वह आक्रोश उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाता । नारी जीवन की दुर्दशा निहार प्रसाद जी के उसी आक्रोश के उभार का परिणाम वह 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक है । इन तथ्यों के आलोक में ही इस नाटक के उद्देश्य और उससे प्राप्त होने वाले संदेश को समझा-परखा जा सकता है ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का रचनाकाल सन् 1933 ई० माना जाता है । उस समय देश की स्वाधीनता के लिए भी तो अनेक प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन चल ही रहे थे, समाज-सुधार के लिए भी देश-विदेश में अनेक प्रकार के आन्दोलनों का आरंभ हो चुका था । भारतीय समाज में अभी तक नारी को किसी भी प्रकार का कोई महत्त्व या अधिकार प्राप्त नहीं था । यहाँ तक कि उसे पढ़ाना-लिखाना भी एक तरह से वर्जित-सा ही था । दूसरे समाज में बाल-विवाह, अनमेल विवाह का प्रचलन तो था ही विधवाओं का पुनर्विवाह भी एकदम वर्जित था, जबकि विधुर पुरुष के पुनर्विवाह पर कोई पाबंदी न थी । वे चाहे जितने भी विवाह कर सकते थे । भारतीय परिवारों में दूसरे घर से बहू बन कर आनेवाली नारी को कई बार अत्यंत पीड़क स्थितियों में जीवन जीना पड़ता था । पुरुष कई बार एक पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह रचा लिया करते थे या अन्य उपायों से अपनी विलास-वासना की पूर्ति कर लिया करते थे, जबकि अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों में रह कर बेचारी नारी को शारीरिक और मानसिक सभी तरह की यंत्रणाएँ भोगनी पड़ती थीं । ऐसी स्थितियों में नारी क्या करे ? एक ज्वलंत प्रश्न समूचे विश्व के समाज विशेषकर जागरूक नारी समाज के सामने उपस्थित था । पश्चिम में जागरूक और अग्रगामी नारियों ने तो उस प्रश्न का उत्तर पुरुष के चंगुल से पूर्णतया कानूनी मुक्ति या तलाक के रूप में ढूँढ़ लिया, परन्तु भारत जैसे धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़े देश के लिए यह भला कैसे स्वीकार और सम्भव हो सकता था ? पश्चिम से प्रभावित होकर यहाँ भी नारी-मुक्ति अर्थात् कानूनी रूप से तलाक के अधिकार की चर्चा होने लगी । यहाँ के समाज-सुधारकों और राजनीति के ठेकेदारों ने तो एक सीमा तक नारी के इस अधिकार को मान्यता देना आरंभ कर दिया, परन्तु धर्म-ध्वजों ने नाक-भौं सिकोड़, त्योरियाँ चढ़ा घोषित करना शुरू कर दिया कि भारतीय नारी द्वारा विवाह विच्छेद या तलाक का नाम तक लेना एक घोर धार्मिक अपराध है । धर्म की दृष्टि से ऐसा करना अपने, परिवार और पूरे समाज के लिए नरक के द्वार खोल देने के समान है । यह सुनकर देश के बुद्धिजीवी और नारी-मुक्ति के आकांक्षी चौंक पड़े । बुद्धिजीवी और युगों से नारी को मिलने वाली यातना से पीड़ित नाटककार जयशंकर प्रसाद ने धर्मध्वजों की निराधार आशंकाओं का उचित उत्तर देने के लिए भारतीय इतिहास और धर्मशास्त्रों के भूले-बिसरे पृष्ठों की फिर से गहरी छानबीन की । ऐसा करने के बाद ही 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक रच कर उन्होंने यह प्रमाणित किया कि विशेष परिस्थितियों में भारतीय धर्मशास्त्र और धर्म के प्रतिनिधि भी नारी को पुरुष के चंगुल से मुक्ति, अर्थात् विवाह-विच्छेद या तलाक का अधिकार देते हैं ।

इस आलोक में नारी-जीवन की अपने घर-परिवार और समाज में विषम, विपन्न स्थितियों का चित्रण कर, उनमें सुधार लाने, या उन्हें उन विषमताओं से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करना ही 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का मूल उद्देश्य कहा जा सकता है । इसी के अन्तर्गत नाटककार ने नारी जीवन से संबंधित प्रेम-विवाह, अनिच्छित विवाह; धर्म, समाज, परिवार, राजनीति में नारी के महत्त्व, अधिकार और स्थान को भी बड़े ही संयत ढंग से समग्र नाटकीय प्रक्रियाओं में चित्रित किया है । इस कारण नाटक में कोरे सुधार का मात्र प्रचार की भावना कहीं भी दिखाई नहीं देती । सभी कुछ अत्यंत स्वाभाविक और युक्ति संगत ही प्रतीत होता है । नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी को शकराज की मंगेतर होने पर भी गुप्तवंश में उपहार बनकर आना पड़ता है । चन्द्रगुप्त के सुन्दर, आकर्षक व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित होकर

वह उससे प्रेम करने लगती है । परन्तु उसे रामगुप्त जैसे षड्यंत्रकारी, चरित्रहीन और नपुंसक व्यक्ति के साथ अनमेल और राक्षस विवाह करने को बाध्य होना पड़ता है । इस प्रकार राजनीतिक प्रपंचों का शिकार होकर 'ध्रुवस्वामिनी' का जीवन अपने लिए ही बोझ बनता जाता है । रामगुप्त और उसके व्यक्तित्व-विचारों में कहीं कोई मेल नहीं होता । विवाह हो जाने के बाद अपना पुराना सभी कुछ भुलाकर ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के साथ ही शान्तिपूर्वक रहना चाहती है, पर रामगुप्त ऐसा कोई प्रयास नहीं करता । उल्टे उसके चरित्र पर सन्देह कर उसपर अनेक पाबंदियाँ लगा मानसिक यातनाएँ ही देता है । वह स्वयं अन्य उपायों से अपने में ही मस्त और विलासप्रियता में निमग्न रहता है । पति के कर्त्तव्य निबाहने की उपेक्षा कर वह खड्गधारिणी से कहता है कि :

.....ध्रुवदेवी क्या मन-ही-मन चन्द्रगुप्त के - है न मेरा सन्देह ठीक ?'' और फिर ''जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गंभीर व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा ।.....जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे ? भीतर-ही-भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे ? (खड्गधारिणी से) सुना न, ध्रुवदेवी से कह देना चाहिए कि वह मुझे और मुझसे ही प्यार करे । केवल महादेवी बन जाना ठीक नहीं ।'' हालाँकि विवाह के बाद ध्रुवस्वामिनी ने चन्द्रगुप्त की परछाई तक भी नहीं देखी होती । फिर भी जिसके बारे में पति ऐसा सोच, हर क्षण उसे प्रताड़ित ही करता रहे, उस नारी की आखिर गति और नियति क्या हो सकती है ? ध्रुवस्वामिनी को विवाहिता राजमहिषी होते हुए भी परित्यक्ता-सा एकांकी जीवन बिताने को विवश होना पड़ता है । जिन दास-दासियों के पहरेदारी और निगरानी के लिए उसके आस-पास नियुक्त किया जाता है, वे सब भी आधे-अधूरे, कुबड़े, बौने और हिजड़े जैसे ही होते हैं । वह किसी से बात नहीं कर पाती । समाज और धर्म द्वारा प्रदत्त पति से बात तक करने को तरसती रहती है । पति यदि भूल से उसके समीप बात करने आता भी है, तो नशे से धुत होकर एवं एक दासी के कन्धों का सहारा लिए हुए; वह भी प्रसन्न प्रेमालाप करने नहीं, बल्कि सारे मान-सम्मान और वंश-गौरव को ताक पर रख कर पत्नी को उपहार बना कर पर-पुरुष (शकराज) की शैया शृंगार बनने का आदेश देने के लिए । अपने मान-सम्मान के लिए चिन्तित नारी ध्रुवस्वामिनी जब नैतिकता, धर्म और सतीत्व की दुहाई देती है, अपने सम्मान की रक्षा का वास्ता देती है, तो मदान्ध पुरुष अपनी राज्य की भूख की सुरक्षा मात्र को सामने रखकर विवाह के समय के अग्नि-साक्ष्य को ही भुलाकर कहता है :

''मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी । मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था, पुरोहित ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा । उन बातों का बोझ मेरे सिर पर कदापि नहीं ।'' इस प्रकार एक तुच्छ और हीन चरित्रवाले व्यक्ति से उपेक्षित होकर भी नारी ध्रुवस्वामिनी उसके चरणों से लिपट अपने और अपने साथ-साथ अपने वंश-गौरव की रक्षा करने की भी याचना करती है । परन्तु रक्षा के बदले में मिलता है उसे अपमानजनक घातक आदेश कि ''जाओ, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार की वस्तु हो, आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ तो इसमें तुम्हें आपत्ति क्यों ?'' इस प्रकार पति नामक पुरुष जब एकदम निर्मम-निर्लज्ज बन जाएँ, तो नारी के पास अपने व्यक्तित्व एवं बहुमूल्य सतीत्व-रक्षा का उपाय ही क्या रह जाता है ? चिन्तन काल से अपनी इच्छापूर्ति के लिए पुरुष नारी के साथ ऐसा व्यवहार करता आ रहा है । पुरुष ने कभी उसे सामाजिक नियमों के आधार पर यातना दी है तो कभी धर्म का नाम लेकर उसे बरगलाया है । कई बार उसे राजनीतिक शतरंज का मोहरा भी बनाया है - जैसा कि नाटक में ध्रुवस्वामिनी को दो-दो बार बनना पड़ता है । ऐसी स्थितियों से मुक्ति का उपाय ? पुरुष समाज ने हमेशा इस प्रश्न का उत्तर उपेक्षापूर्ण मौन में ही दिया है ।

यह तो रही पत्नी-रूप में नारी की स्थिति । कोमा और शकराज के सह-कथानक के माध्यम से नाटककार ने यह भी स्पष्ट किया है कि नितान्त प्रेममयी और समर्पित प्रेमिका बनकर भी विलासी और स्वार्थी पुरुष से नारी को उपेक्षा और अपमान ही मिले हैं । ध्रुवस्वामिनी को यदि राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का मोहरा दो बार बनना पड़ता है तो कोमा को भी शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध और विलास-भावना का मोहरा बनकर अपने तन मन से हाथ धोना पड़ता है । इस प्रकार नारी की दुख पीड़ा को साकार कर उसकी मुक्ति का उपाय सुझाना, उसके लिए धर्म और शास्त्र को भी मान्यता प्रस्तुत करना ही इस नाटक का एकमात्र मुख्य उद्देश्य प्रमाणित होता है । नाटककार ने मन्दाकिनी के एक सम्वाद के माध्यम से नारी-दशा और उद्देश्य को बड़े ही कलात्मक रूप में प्रस्तुत कराया है :

''स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं । कितनी असहाय दशा है । अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से वह पुरुष के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इसको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है । तब भी वह बावली (उसे ही) मानती है ।''

इस प्रकार पुरुष का अत्याचार और नारी की सहनशक्ति की सीमा बढ़ती जाती है । पर इस प्रकार की सीमाओं के विस्तार की भी तो कोई सीमा होती है । नाटककार के मत में वह सीमा है नारी की जागृति, अपने स्वत्वाधिकारों की प्राप्ति और रक्षा के लिए अत्याचारी पुरुष समाज के प्रति विद्रोह-''मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल मणि नहीं हूँ, मुझमें भी रक्त की तरल लालिमा है, मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूँगी ।'' यह विद्रोह और सजगता ही नारी की रक्षक बन सकते हैं, नारी की दयनीय दशा के चित्रण के उद्देश्य को पूरा कर यही संदेश नाटककार ने उसके लिए दिया है ।

नाटककार ने इसी उद्देश्य और सन्देश की पूर्ति के लिए ही अन्त में धर्म और समाज के साक्ष्य का सहारा लिया है । शकराज की मृत्यु के बाद जब परित्यक्ता ध्रुवस्वामिनी के अस्तित्व और अधिकार का प्रश्न उठता है, पुरोहित स्वस्त्ययन के लिए आता है और ध्रुवस्वामिनी धर्म-कर्म की इस बात को व्यर्थ कहती है, तब राजपुरोहित विवाह की परिभाषा कर शास्त्र को एक बार फिर देखने की बात कह चला जाता है । बाद में परिषद् के समक्ष राजपुरोहित स्पष्ट घोषणा करता है कि -''यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं । .....मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'' इस प्रकार नाटक के उद्देश्य की चरमपूर्ति और परिणति तो हो ही जाती है, इससे एक सन्देश भी ध्वनित होता है कि सब प्रकार से हीन चरित्र, स्वभाव और कर्मवाले पुरुष से नारी को मुक्ति पाने या तलाक लेने के अधिकार में धर्मशास्त्र बाधक नहीं, बल्कि सहमत है । अतः समय के अनुसार पुरुष समाज के अत्याचारों से पीड़ित नारियों को अपने इस उचित अधिकार का सुविचारित प्रयोग करना चाहिए ।

इस विवेचन एवं विश्लेषण से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का उद्देश्य और सन्देश स्पष्ट हो जाता है । एक वाक्य में वह है - भारतीय समाज में नारी-जीवन की विषम स्थितियों का चित्रण कर, मुक्ति के उपायों को खोजना और समर्थन देना, नारी को अपने स्वत्वाधिकारों के प्रति सजग होने का संदेश पहुँचाना । नाटककार ने इस उद्देश्य और सन्देश की पूर्ति पूर्ण कलात्मक ढंग से की है ।

24.3 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी के उद्देश्य का उल्लेख कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी : मूल्यांकन

पाठ संरचना

25.0 उद्देश्य
25.1 परिचय
25.2 नाट्यकला की दृष्टि से मूल्यांकन
25.3 कथानक
25.4 पात्र और उनके चरित्र-चित्रण
25.5 संवाद या कथोपकथन
25.6 देशकाल एवं वातावरण
25.7 भाषा-शैली-शिल्प
25.8 उद्देश्य एवं सन्देश
25.9 रंगमंच और अभिनेयता
25.10 अभ्यास के प्रश्न

25.0 उद्देश्य

प्रसाद का नाट्यसाहित्य हिन्दी नाट्येतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है । हिन्दी नाटक के विकास में उसे एक मजबूत कड़ी के रूप में देखा जा सकता है । प्रसाद की नाट्ययात्रा एक अत्यंत सजग एवं विकासशील रचनाकार की विकास यात्रा है । ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने रंगमंच से टूटे हुए अपने अप्रत्यक्ष संबंध को फिर जोड़ दिया, बहुत अच्छी तरह और नए रूप में । इस नाटक में उन्होंने अपने को पारसी रंगमंच के प्रभावों से मुक्त भी किया, नाटक में काव्यत्व की प्रतिष्ठा भी थी, नाटकीय अनुशासन में अपने को बाँधकर वस्तुविन्यास को सुव्यवस्थित बनाया, मानवीय चरित्रों की अवतारणा भी की, ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा भी की । इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी का नाट्यकला की दृष्टि से मूल्यांकन, से पाठकों का परिचय कराना है ।

25.1 परिचय

ध्रुवस्वामिनी में हिन्दी के एक अत्यंत जागरूक एवं शक्तिसम्पन्न नाटककार की कला का विकास हुआ है, कहना चाहिए कि हिन्दी की नाट्यकला का विकास हुआ है । जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की नाट्यकला को छोड़ा था, वहाँ से जयशंकर प्रसाद ने शुरू किया और जहाँ जयशंकर प्रसाद ने उसे छोड़ा, वहाँ से जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश उसे लेकर आगे चले ।

प्रसाद के विकास और इन सभी बातों को देखते हुए यह अनुमान असंगत नहीं कि ध्रुवस्वामिनी के बाद भी

प्रसाद आगे लिखते तो उनकी वही दिशा होती जो उनकी परंपरा में आनेवाले बाद के नाटककारों की हुई । प्रसाद के नाटकों में अनेक दुर्बलताएँ हैं, लेकिन हिन्दी नाटक के विकास के महत्त्वपूर्ण रूप में उनका अपना महत्त्व है ।

25.2 नाट्यकला की दृष्टि से मूल्यांकन

प्रसिद्ध कवि और नाटककार जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी नाटक के प्रमुख उन्नायक और उद्धारकर्ता माने जाते हैं । आधुनिककाल के आरंभ में भारतेन्दु युग में तो निश्चय ही अच्छे-अच्छे नाटक लिखे गए, परन्तु उनके अगले द्विवेदी युग में साहित्यिक कोटि के नाटक-रचना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया । केवल पारसी-थियेटर और रंगमंच के लिए सामान्य कोटि के और कहीं-कहीं अश्लील तथा भौंडे नाटक ही रचे जाते रहे । ऐसे समय में हिन्दी नाटक के क्षेत्र में पदार्पण कर श्री जयशंकर प्रसाद ने निश्चय ही उसे नई गति-दिशा प्रदान की । प्रसाद जी ने अपने पहले नाटकों में तो परम्परागत भारतीय नाट्यशास्त्र और उसमें वर्णित नाट्यकला का ही अधिक ध्यान रखा, पर धीरे-धीरे आधुनिक नाट्यशिल्प के प्रभाव में उनकी नाट्यकला का विकास आधुनिकता की दिशा में होता गया । 'ध्रुवस्वामिनी' नामक अपने इस अन्तिम नाटक की रचना तक उन्होंने आधुनिक नाट्य-शिल्प को पूर्णतया अपना लिया था । भावुकता, भावना और काव्यमयता का मोह अपने सहृदय कवि स्वभाव के कारण यद्यपि वह इस नाटक में भी त्याग नहीं पाए, फिर भी 'ध्रुवस्वामिनी' का अध्ययन-मनन करने पर हम पाते हैं कि इस नाटक में नाटक के मान्य सभी आधुनिक तत्त्वों का निर्वाह उचित ढंग से सम्भव हो सका है ।

आधुनिक नाट्यशास्त्री और आचार्य नाटक की रचना के लिए क्रमशः सात तत्त्वों की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं । क्रम से उन सात तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं :

1. कथावस्तु या कथानक
2. पात्र और उनके चरित्र-चित्रण
3. संवाद या कथोपकथन
4. देशकाल और वातावरण
5. भाषा शैली शिल्प
6. उद्देश्य एवं संदेश
7. रंगमंच और अभिनेयता

प्रसाद जी के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के आलोक में जब हम उसके कथ्य-कथानक का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, तो निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने, क्रम से उभरकर आते हैं :

25.3 कथानक

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कथावस्तु का मूल आधार यद्यपि ऐतिहासिक है, पर अपनी योजना और उद्देश्य के अनुरूप, कल्पना का सहारा लेकर नाटककार ने उसमें काफी कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया है । इस आलोक में नाटक की कथावस्तु को प्रख्यात या विशुद्ध ऐतिहासिक न कह कर इतिहास और कल्पना का मिश्रण या 'मिश्रित कथावस्तु' ही कहा जा सकता है । नाटककार ने इसमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कुछ सामाजिक और राजनीतिक शाश्वत प्रश्नों को कथावस्तु के सशक्त माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । मूल कथावस्तु मात्र इतनी ही है

कि पहले शकराज की मंगेतर ध्रुवस्वामिनी को अपने पिता द्वारा सम्राट समुद्रगुप्त के साथ की गई राजनीतिक संधि के अन्तर्गत गुप्तवंश की वधू बनकर आना पड़ा । वह (ध्रुवस्वामिनी) कुमार चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरक्त रहती है, पर आमात्य शिखर स्वामी के साथ मिलकर रामगुप्त के षड्यन्त्र का शिकार होकर विवाह कायर, विलासी, स्वभाव से पतित और नपुंसक रामगुप्त से करना पड़ता है । रामगुप्त न तो उसके अधिकार की रक्षा ही कर पाता है और न ही उसे पत्नी का मान-सम्मान और प्यार ही देता है । उल्टे शकराज की सेना से ससैन्य घिरकर, उपहार के रूप में ध्रुवस्वामिनी को उसके हवाले करने को तैयार हो जाता है । तब कुमार चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेश में शक-शिविर में जाकर शकराज से ध्रुवस्वामिनी की रक्षा कर, शकराज की हत्या कर डालता है । तब, रामगुप्त के आचरण और व्यवहार से खिन्न होकर धर्म का प्रतिनिधि पुरोहित निर्णय देता है कि ध्रुवस्वामिनी पर रामगुप्त जैसे पतित व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं है । धर्म उसे मोक्ष का अधिकार देता है । परिषद् निर्णय करती है कि रामगुप्त जैसे गौरव-नष्ट व्यक्ति को मगध के पवित्र सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार नहीं है । अन्त में रामगुप्त अपनी ही हरकत से मारा जाता है । चन्द्रगुप्त को अपना राज्याधिकार और ध्रुवस्वामिनी को अपना प्रेमी पति रूप में तथा वास्तविक रूप में महादेवी होने का गौरव प्राप्त हो जाता है । बस, इतनी-सी कथावस्तु को ही नाटककार ने एक कलात्मक नाटक का रूप दिया है ।

इस मुख्य कथानक के साथ शकराज और कोमा का प्रणय-प्रसंग भी जोड़ा गया है । उसमें प्रेमिका कोमा की अन्त में अपने प्रेमी शकराज का शव ले जाते समय रामगुप्त के सैनिकों द्वारा हत्या कर दी जाती है । उपरोक्त मुख्य कथानक के उद्देश्य और समस्या को उजागर करने के लिए ही नाटककार ने इस प्रणय-प्रसंग की योजना की है । इस दृष्टि से इसे भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है ।

कथानक-योजना और विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी के पास रामगुप्त और शिखर स्वामी के इस बात को लेकर आने तक की स्थिति को 'आरम्भ' की अवस्था या स्थिति कहा जा सकता है कि उपहार की वस्तु बनकर सन्धि शर्तों के अनुरूप उसे शक-शिविर में जाना पड़ेगा । सुनकर ध्रुवस्वामिनी के मान-मनुहार और आत्महत्या का प्रयत्न, उसके बाद सहसा चन्द्रगुप्त के प्रवेश तक की कथावस्तु को दूसरी अवस्था 'विकास' की अवस्था माना जा सकता है । इसके बाद आरम्भ होती है कथावस्तु विकास की तीसरी अवस्था, जिसका विस्तार ध्रुवस्वामिनी के साथ नारी-वेश में चन्द्रगुप्त के शकदुर्ग में जाने, शकराज की हत्या तक की घटनाओं तक माना जा सकता है । इसके बाद कथावस्तु के 'चरमोत्कर्ष' की अवस्था का आरम्भ तब होता है, जब परित्यक्ता ध्रुवस्वामिनी अपने को रामगुप्त की महादेवी न मान पुरोहित के स्वस्त्यायन-पाठ से इनकार कर देती है । इसके बाद रामगुप्त का आगमन, चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने, अधिकार-रक्षा के उत्साह और आवेग में आकर चन्द्रगुप्त द्वारा शृंखलाएँ तोड़ डालने और शिखर स्वामी द्वारा परिषद् से अधिकार का निर्णय करा लेने की सलाह तक की घटनाएँ नाटक की कथावस्तु के चरमोत्कर्ष को ही व्यक्त करने वाली हैं । तदुपरान्त परिषद् के बैठने से चरम परिणति या वस्तु-योजना का उपसंहार आरंभ होता है । परिषद् और पुरोहित के इस निर्णय के साथ कि रामगुप्त का न तो ध्रुवस्वामिनी पर अधिकार है और न सम्राट समुद्रगुप्त के पवित्र सिंहासन पर ही, कथावस्तु का उपसंहार हो जाता है । बाद में रामगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या का प्रयत्न करना और एक सामन्त कुमार के हाथों मारा जाना उपसंहार की अन्तिम प्रक्रिया मात्र है । इस प्रकार बड़ी तीव्र और कलात्मक गति से आरंभ होकर नाटक की कथावस्तु अपनी चरम परिणति या उपसंहार तक की यात्रा तय करती है ।

मुख्यत: राजनीतिक कथावस्तु होते हुए भी इसमें समूचा कार्य-व्यापार सुसंगठित, रोचक, कौतूहल वर्द्धक और जिज्ञासापूर्ण है । सह कथानक का गठन भी बड़े सजीव-सटीक ढंग से अन्त:नियोजन की सफलता की द्योतक है । यह बात भी ध्यातव्य है कि यद्यपि कथावस्तु में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है, पर वह इतना सुघड़ और कलात्मक बन पड़ा है कि दोनों को अलग करके देख जान पाना बड़ा ही कठिन कार्य है । इस संघटना को नाटक की कथावस्तु योजना की एक अतिरिक्त विशेषता रेखांकित किया जा सकता है ।

25.4 पात्र और उनके चरित्र चित्रण

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का कथानक क्योंकि स्रोत की दृष्टि से कल्पना-इतिहास का मिश्रण है, अत: पात्र भी अधिक ऐतिहासिक और कुछ कल्पित हैं । अर्थात् नाटककार ने पात्रों की योजना में भी अपने उद्देश्य के अनुरूप उचित कल्पना और इतिहास का मिश्रण किया है । इस दृष्टि से नाटक के प्रमुख पात्र - ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और शकराज के साथ आचार्य मिहिर देव तथा आमात्य के रूप में शिखर स्वामी पूर्णतया ऐतिहासिक पात्र ही कहे जाएँगे । इनके अतिरिक्त नाटक के शेष सभी पात्र नाटककार की अपनी सुघड़ ऐतिहासिक कल्पना के ही प्रमाण हैं । मन्दाकिनी, कोमा, राजपुरोहित, परिषद् के सदस्य, खड्गधारिणी, हिजड़ा, बौना, कुबड़ा आदि सभी पात्र कल्पित ही कहे जा सकते हैं ।

कथावस्तु के उद्देश्य, वर्ण्य-विषय के अनुरूप पात्र-योजना के आलोक में, नाटक में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को नायक-नायिका होने के कारण प्रमुख पात्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है । सह-कथानक का नायक होने के कारण शकराज की गणना भी प्रमुख पात्रों की श्रेणी में ही की जानी चाहिए । रामगुप्त नाटक का खलनायक पात्र है और शिखर स्वामी खलनायक का प्रमुख सहायक । इन सबके अतिरिक्त शेष सभी पात्र सहायक पात्रों की श्रेणी में आते हैं । मन्दाकिनी, सामान्त कुमार, राज पुरोहित और परिषद् आदि को प्रमुख पात्रों के सहायक, खिंगल तथा शक-सामन्तों को शकराज के सहायक; खड्गधारिणी, हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि को खलनायक रामगुप्त के सहायक स्वीकारा जा सकता है । आचार्य मिहिरदेव और कोमा यद्यपि शकराज के पक्ष के पात्र हैं, पर कथावस्तु में इनके प्रयोग, इसी प्रकार पुरोहित और परिषद् के प्रयोग को देखते हुए इन सब को तटस्थ पात्रों की एक अलग श्रेणी में भी परिगणित किया जा सकता है ।

यह तो हुई पात्र-योजना, उनके स्रोत और स्वरूप आदि की बात । अब उनके चरित्र-चित्रण पर आते हैं । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में दो प्रकार के पात्रों की योजना की गई है । पहली प्रकार के पात्र हैं - गतिशील चरित्र-स्वभाव वाले । वह इसलिए कि देशकाल और उसकी परिस्थितियों के अनुसार इनके चरित्रों में उचित परिवर्तन दिखाया गया है । ध्रुवस्वामिनी, मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, राजपुरोहित, परिषद् और सामन्त कुमार, शिखरस्वामी आदि पात्र इसी श्रेणी के कहे जा सकते हैं । दूसरी श्रेणी के पात्रों को स्थिर-चरित्र स्वभाव वाले पात्र कहा जाता है । वह इसीलिए कि देशकाल के अनुरूप इस प्रकार के पात्रों पर कोई भी प्रभाव या परिवर्तन का लक्षण नहीं दिखाई देता । आरंभ से अन्त तक ऐसे पात्र अपने गुण, स्वभाव और क्रियाकलापों में एक जैसे ही बने रहा करते हैं । रामगुप्त, शकराज, कोमा और आचार्य मिहिरदेव जैसे पात्र इसी श्रेणी में आते हैं । इनमें से कोमा और आचार्य मिहिरदेव को सद्गुणों से समन्वित स्थिर चरित्र वाले पात्र कहा जा सकता है, जबकि रामगुप्त और शकराज जैसे पात्रों को अनेकविध दुर्गुणों और हीनताओं से युक्त पात्र । इसी प्रकार सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय नाटककार ने उनकी श्रेणियों का प्राय: उचित ध्यान रखा है ।

ध्रुवस्वामिनी का चित्रण करते हुए नाटककार ने उसके चरित्र में परम्परागत और आधुनिक नारी के समस्त गुणों का समन्वय कर दिया है । एक ओर वह चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी होकर भी रामगुप्त के विवाह हो जाने पर परम्परागत भारतीय नारी के समान ही सब सहन कर, पुराना सबकुछ भुलाकर नया और विधियोग से बन पड़ा जीवन जीने का प्रयत्न करती है, तो दूसरी ओर अपने अधिकार, अपनी सत्ता, स्वत्व, नारीत्व और मान-सम्मान का प्रश्न उपस्थित होने पर वह आधुनिक विद्रोहिणी नारी के समान तन भी जाती है । बुद्धिमता और साहस के साथ शकराज के दुर्ग में जो पहले अपने सतीत्व की रक्षा कर पाने में और बाद में अपने स्वत्वाधिकारों एवं प्रणय-सम्बन्धों की रक्षा कर पाने में भी समर्थ होती है । इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी का चरित्र पर्याप्त अनुकरणीय बन गया है ।

रामगुप्त नाटक का खलनायक है । खलनायक की विलासिता, गौरवहीनता, निर्लज्जता, षड्यन्त्रकारिता, कायरता, भीरूता और उस पर भी थोथा दम्भ एवं धूर्तता आदि सभी बातों-विषयों का उसके चरित्र में समावेश करके नाटककार ने उसे सच्चे अर्थों में खलनायक बनाकर ही प्रस्तुत किया है । उसे कर्म से भ्रष्ट, मानसिक स्तर पर पतित और शारीरिक स्तर पर कायर के साथ-साथ नपुंसक भी बताया गया है । अन्त में खलनायकों के समान ही रामगुप्त का अन्त भी उचित ढंग से, नाटकीय अंदाज में चित्रित किया गया है ।

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है । उसे हम शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त किस्म का नायक कह सकते हैं । नाटककार ने सबसे पहले चन्द्रगुप्त को उदार और सहनशील तथा त्याग-बलिदान की भावना से पूरित दिखाया है । गृह-कलह से बचने के लिए अपने राज्य के उत्तराधिकार के साथ-साथ अपनी प्रेमिका का मोह भी त्याग देना उसके इन्हीं गुणों की ओर इंगित करनेवाला है । इसके बाद उसके वंश-गौरव की भावना का पता उस समय चलता है, जब वह अपनी कुल-लक्ष्मी ध्रुवस्वामिनी के अपमानपूर्ण उपहार की बात सुनकर चौंक उठता है । फिर स्वयं ही ध्रुवस्वामिनी के वेश में शक-दुर्ग में जाने को तैयार हो जाता है । इसके बाद साहस और वीरता का परिचय वह शक-दुर्ग में अकेले ही शकराज का वध करके देता है । उसके धैर्य की परीक्षा तब होती है जब शक-दुर्ग में पहुँचकर भी वह रामगुप्त के सैनिकों द्वारा बन्दी बना लिया जाता है । इसके साथ चन्द्रगुप्त को एक पवित्र, त्याग और बलिदान के भाव से भरे प्रेमी के रूप में भी चित्रित किया गया है । अपने इन्हीं गुणों और विशेषताओं के कारण ही अन्त में चन्द्रगुप्त वह सब कुछ पा लेता है जो उसे मिलना चाहिए और जिसका वह वास्तविक अधिकारी भी होता है । इस प्रकार चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व और चरित्र भी काफी अनुकरणीय, काम्य और आकर्षक चित्रित किया गया है ।

शकराज 'ध्रुवस्वामिनी' की सह-प्रणय-कथा का नायक है । नाटककार ने इसे अपनी राजनीति, बुद्धिमता और वीरता के मिथ्या गर्व से पीड़ित दिखाया है । यों इसे कोमा नामक शक-युवती का प्रेमी भी चित्रित किया गया है, परन्तु इसका प्रेमभाव जवानी का क्षणिक जोश, स्वार्थपूर्ण और विलास-भावना से प्रेरित होने के कारण पानी का बुलबुला ही प्रमाणित होता है । ध्रुवस्वामिनी को पाने की अपनी लालसा को राजनीतिक प्रतिशोध का नाम देकर प्रेमिका कोमा और अपने गुरु आचार्य मिहिरदेव तक को बरगलाना चाहता है । ऊपर से भीरुता, साहस और बड़प्पन की शेखी बघार कर भी भीतर से इतना कायर कि धूमकेतु की बात सुनकर ही काँप उठता है । उसकी इस प्रकार की अहमन्यताएँ और और विलासितापूर्ण भावनाएँ ही अन्त में उसकी मौत का कारण बनती है ।

आमात्य शिखर स्वामी उस युग बल्कि युग-युगों के राजनीतिज्ञों की शासन लिप्सा और उसे पूर्ण करने के लिए रचे जानेवाले षड्यंत्रों की इस (राजनीतिज्ञों के) वर्ग की कार्य नीति का प्रतीक है । वह हर कार्य यानी षड्यंत्र में रामगुप्त का साथ देकर, एक प्रकार से शासन-संचालन के सभी अधिकार स्वयं संभाल लेता है । अन्त में समय-स्थिति

की नजाकत को पहचान कुशल राजनीतिज्ञ की तरह ही रामगुप्त का साथ छोड़ने का पैंतरा बदल अपने प्राण बचा लेता है ।

आचार्य मिहिर देव भारतीय इतिहास में एक कुशल नक्षत्रज्ञ और ज्योतिष-विद्या के विद्वान के रूप में माने जाते हैं । नाटक में इनका प्रयोग न्याय-नीति के पक्ष का समर्थन करने तथा शकराज की चारित्रिक दुर्बलताओं को उजागर करने के लिए ही किया गया है । बेचारे अन्त में नाहक ही अपनी पालित पुत्री कोमा के साथ रामगुप्त के उद्दण्ड सैनिकों के हाथों मारे जाते हैं ।

इन ऐतिहासिक पात्रों के बाद मन्दाकिनी और कामा जैसे कल्पित पात्र हमारे सामने आते हैं । मन्दाकिनी का चरित्र-चित्रण पूर्णतया आधुनिक सजग नारी के चरित्र की रूपरेखाओं पर चित्रित किया गया है । वह अपने अधिकार रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को उत्साहित करता है । नारी अधिकार के प्रश्न को लेकर मुक्त भाव से ध्रुवस्वामिनी के साथ खड़ी दिखाई देती है । इसके विपरीत कोमा को एक परम्परागत कोमल-कान्त और भावनाओं में बंदी नारी के रूप में चित्रित किया गया है । उसकी भावुकता ही नाटक में उसके समूचे संत्रास, पीड़ा और अन्त में मृत्यु का कारण भी बनती है । इन दोनों नारी पात्रों की परिकल्पना नाटककार ने नाटक के उद्देश्य और समस्या की रूपरेखा में प्रबल रंग भरने के लिए ही बड़े सजीव ढंग से की है ।

इनके अतिरिक्त पुरोहित और परिषद् के पात्रों की परिकल्पना नाटककार ने नाटक में उपस्थित प्रश्नों और समस्याओं के बारे में अपने विचार प्रगट करने, अपना निर्णय देने के लिए की है । इसमें वह सफल भी होते हैं और नाटक के उद्देश्य एवं सम्पूर्णता को सुदृढ़ आधार प्रदान करते हैं ।

खिंगल शकराज की आज्ञा पूर्ण करनेवाला सेवक मात्र हैं । शकराज के सामान्त भी इसी श्रेणी में आते हैं । गुप्त कुल के सामान्त कथानक-योजना, विकास और चरम परिणति में अवश्य काफी सहायक प्रमाणित होते हैं । हिजड़े, बौने, कुबड़े जैसे पात्रों का प्रयोग एक तो रामगुप्त के अधूरे व्यक्तित्व को व्यक्त करने के लिए, दूसरे निम्नकोटि के दरबारी मनोरंजन और तीसरे कुमार चन्द्रगुप्त की नारी वेश में शक दुर्ग में जाने की प्रेरणा देने के लिए किया गया है । खड्गधारिणी मात्र रामगुप्त की आज्ञा-वाहिका नौकरानी ही है । इन्हीं दृष्टियों से इन समस्त पात्रों के चरित्र की सार्थकता मानी जा सकती है ।

इस प्रकार पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण के तत्त्व की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को पूर्ण सार्थक और सफल कहा जा सकता है । नाटककार ने कल्पित पात्रों को भी ऐतिहासिक बना दिया है, यह अतिरिक्त विशेषता कही जाएगी ।

25.5 सम्वाद या कथोपकथन

सम्वादों या कथोपकथनों को नाटकों का मूल विधायक तत्त्व माना जाता है । नाटककार कुशल सम्वाद योजना द्वारा ही कथानक का गठन, विकास और चरम परिणति आदि दिखाया करता है । वर्ण्य-विषय समस्या-उद्देश्य आदि को रूपाकार भी संवादों से ही मिलता है । इसी प्रकार नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण भी बहुत कुछ साम्वादिक या वाचिक अभिनय से ही हो पाता है । अन्तः बाह्य वातावरण और परिस्थितियों के चित्रण में भी सम्वाद पर्याप्त सहायता पहुँचाया करते हैं । इन तथ्यों के आलोक में सम्वादों की प्रमुख तीन विशेषताएँ मानी जाती हैं - 1. सम्वाद नाटक की मूल कथावस्तु को स्पष्ट कर उसके विकास में सहायता पहुँचाने वाले होने चाहिए, न कि बाधा पहुँचाने

और व्यर्थ से लगने वाले । 2. सम्वाद वक्ता पात्रों के अन्तः बाह्य चरित्रों का उद्‌घाटन कर पाने में पूर्ण समर्थ होने चाहिए । कथा को स्पष्ट करने की क्षमता होना भी आवश्यक है । 3. सम्वाद आवश्यकतानुसार संक्षिप्त, सरल, स्वाभाविक, रोचक, प्रवाहमय, और भावपूर्ण होने चाहिए । इन तथ्यों के आलोक में जब हम 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की सम्वाद योजना पर विचार करते हैं तो उन्हें सभी प्रकार से पूर्ण पाते हैं । उदाहरण स्वरूप कुछ विशेष प्रकार के सम्वाद-खण्ड देखें, रामगुप्त और आमात्य शिखर स्वामी के बीच शकराज के प्रस्ताव को लेकर बातचीत चल रही है :

रामगुप्त कहता है - .....इस समय जो प्रश्न सामने आ गया है, उस पर विचार करना चाहिए । यह तुम जानते हो कि मेरी इस विजय-यात्रा का कोई गुप्त उद्देश्य है । उसकी सफलता भी सामने दिखाई पड़ रही है । हाँ, थोड़ा-सा साहस चाहिए ।'' शिखर स्वामी पूछता है - ''वह क्या है ?'' तो रामगुप्त का उत्तर होता है -''शक दूत सन्धि का जो प्रमाण चाहता है, उसे अस्वीकार न करना चाहिए । ऐसा करने से इस संकट के बहाने से जितनी विरोधी प्रकृति है, उस सब को हम लोग सहज ही हटा सकेंगे ।'' ये सम्वाद-खण्ड कथा-सूत्रों को स्पष्ट कर उनके आगे बढ़ने का संकेत तो देता ही है, वक्ता पत्रों की मानसिकता-अर्थात् चारित्रिक गठन को भी व्यंजित करता है । सरलता और सहजता भी यहाँ स्पष्ट है । हाँ, कहीं-कहीं काव्यमयता और काव्यमयी के प्रयोग के कारण सम्वाद कुछ-कुछ कठिन भी हो गए हैं । जैसे-''हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती रहूँ-यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है ?

कहीं-कहीं सम्वाद कुछ लम्बे अवश्य हो गए हैं, पर वे अर्थपूर्ण, प्रभावी और कथ्य-कथानक की आवश्यकता को पूरा करने के लिए ही ऐसे हुए हैं । कहीं-कहीं सम्वादों में लाक्षणिक प्रयोग भी मिल जाते हैं, जैसे - ''किन्तु मेरा नीड़ कहाँ ? यह तो स्वर्ण-पिंजर है ।'' इस प्रकार कुल मिलाकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की सम्वाद योजना को कथ्य-कथानक की इस मूल भावना और आवश्यकता के अनुरूप सफल सार्थक ही कहा जाएगा ।

25.6 देश-काल और वातावरण

'देश' का अर्थ होता है वह स्थान, जहाँ नाटक में वर्णित घटनाएँ, कथानक और विकास-सूत्र घटित होकर विकसित हुए हों । 'काल' का अर्थ होता है वह युग और समय, जब समूचा घटनाक्रम और क्रिया-व्यापार घटित होता है । 'वातावरण' का अर्थ होता है, देशकाल के अनरूप परिस्थितियों का चित्रण । इस प्रकार इस तत्त्व के अन्तर्गत किसी नाटक का विवेचन करते समय यह देखा जाता है कि नाटक के मूल कथ्य-कथानक का सम्बन्ध जिस स्थान और समय के साथ जुड़ा हुआ है, उसके अनुकूल परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, रुचियों आदि का वर्णन हो पाया है कि नहीं ।

वर्णन और व्यवहार के स्तर पर वातावरण-चित्रण के दो प्रमुख रूप माने जाते हैं - एक बाह्य वातावरण कि जिसका संबंध देशकाल की प्रकृति और भूगोल आदि से रहा करता है, दूसरा आन्तरिक वातावरण कि जिसका संबंध घटनाकाल की अन्तःप्रवृत्तियों, रुचियों, समस्याओं आदि से रहा करता है । नाटक में देशकाल के अनुरूप ही इन दोनों प्रकार के वातावरण का स्पष्ट चित्रण मिलता है । नाटक का आरंभ एक ओर तो वर्ण्य घटना के प्रकृति चित्रण में होता है, दूसरी ओर उसके द्वारा शासक रामगुप्त की प्रवृत्ति की रूक्षता, कठोरता और स्वार्थपरता का भी आभास मिल जाता है । उदाहरण देखें - ''(सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी

उन्मुक्त शिखर ! और इन क्षुद्र, निरीह, कोमल लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न ।'' सम्वादों के माध्यम से तो नाटककार ने इस प्रकार से अन्त:बाह्य वातावरण का चित्रण किया ही है, उसने दृश्यारंभ या बीच-बीच में जो अनेक प्रकार के रंग-संकेत दिए हैं, वे भी उसके उजागरण में पर्याप्त सहायक हुए हैं ।

आन्तरिक वातावरण और परिस्थितियों के चित्रण की दृष्टि से, नाटक पढ़ने पर उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक और नैतिक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों, रुचियों आदि से संबंधित तथ्यों की झलक मिल पाती है । राजनीति, धर्म, समाज की अनेकविध मान्यताएँ भी हमारे सामने आ जाती हैं । अत: इस तत्त्व के आलोक में भी आलोच्य नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' को पूर्ण सफल कहा जा सकता है ।

25.7 भाषा-शैली-शिल्प

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के सर्जक नाटककार जयशंकर प्रसाद स्वभावत: और मूलत: कवि हैं, वह भी सौन्दर्य का शोध करनेवाले, कोमलकान्त के चितरे छायावादी कवि । अत: स्वभावत: उनकी भाषा में काव्यमयता, चित्रमयता, लाक्षणिकता, व्यंजकता और आलंकारिकता के गुण आ गए हैं । यों दृश्य काव्य होने के कारण नाटकों में इस प्रकार की भाषा शैली उपयुक्त नहीं मानी जाती, पर प्रसाद जी और उनके साहित्यिक नाटकों की यह विवशता है कि इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करें । अत: एक वाक्य में उनके इस नाटक की भाषा को भी उनके अन्य नाटकों की भाषा के समान तत्सम-शब्द प्रधान विशुद्ध साहित्यिक भाषा कहा जा सकता है । उनके भाषा-शैली-शिल्प में यह विशेषता अवश्य रेखांकित की जा सकती है । वर्ण्य-विषय और प्रसंग के अनुकूल, शास्त्रीय दृष्टि से उसमें माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों का समावेश अनायास ही होता जाता है । एक उदाहरण देखें -

''कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।''

इसी प्रकार जब प्रसाद कोमल और प्रणय-प्रसंगों का वर्णन करते हैं तो उनकी भाषा-शैली शिल्प में भी एक प्रकार की कोमल, कान्त स्निग्धता का संचार होने लगता है, जैसे-कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन ! कितने सन्तोष से भरा था । नियति ने अज्ञात-भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश में मिला दिया हो ।'' इस कथन में भाषायी काव्यमयता भी दर्शनीय है ।

नाट्यशैली शिल्प की दृष्टि से आधुनिक यथार्थवादी या समस्या-नाटकों के शिल्प को अपनाकर भी नाटककार प्रसाद उसे तदनुरूप नहीं बना सके । भावना, भावुकता और गीतों के समावेश ने शिल्पिक स्तर पर नाटक को पूर्ण आधुनिक नहीं बनने दिया । प्रसाद जी का दृष्टिकोण यहाँ भी रसवादी ही अधिक प्रतीत होता है । प्रसाद जी के नाट्य-शिल्प के बारे में कहा जाता है कि उसका अन्त सुख-दुखात्मक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के कारण 'प्रसादान्त' हुआ करता है । यहाँ भी स्थिति बिलकुल ऐसी ही है । एक ओर अधिकार च्युत रामगुप्त का मारा जाना, दूसरी ओर चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार के साथ ध्रुवस्वामिनी भी मिल जाना, आदि को प्रसादान्त शिल्प ही स्वीकारा जा सकता है ।

इस प्रकार आलोच्य नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के भाषा-शैली-शिल्प को एक शब्द में 'कवि प्रसादमय' और 'प्रसादान्त' कह कर ही सफल परिभाषित कर सकते हैं ।

25.8 उद्देश्य एवं सन्देश

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रचना का उद्देश्य, उनकी दृष्टि में श्रद्धेय नारी की पीड़ा को व्यक्त करके, उसके सम्मान, सतीत्व और स्वत्वाधिकारी की रक्षा के लिए अपना तुमुल स्वर निनादित करना ही प्रतीत होता है । अपने इस सार्वकालिक, सार्वजनीन उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने भारत के अतीत इतिहास के कुछ पृष्ठों को टटोल यह व्यवस्था खोज निकाली है कि यदि कोई पुरुष "गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव हो" तो विवाहिता नारी को उसके बन्धन से कानूनी तौर पर मुक्ति (तलाक) हासिल करने का अधिकार है । धर्मशास्त्र भी नारी के इस अधिकार का समर्थन करते हैं । नाटककार का उद्देश्य यह स्पष्ट करना भी है कि नारी के उचित सम्मान एवं उन्नति के बिना समाज और राष्ट्र कभी भी उन्नत-विकसित नहीं हो सकता । पुरुष को उसे अपने निहित स्वार्थी चंगुल से मुक्त कर जीवन-समाज में उचित सम्मान और स्थान देना ही होगा ।

इसके साथ ही नाटककार ने अनमेल-विवाह, प्रेम-विवाह, नारी का पुनर्विवाह जैसे प्रश्न भी उठाए हैं और सभी प्रकार से नारी के पक्ष का ही समर्थन किया है । इस प्रकार ऐतिहासिक रिपवेश में चिरन्तन नारीत्व से जुड़े सन्दर्भों में युग-युगों की और आधुनिक भी, नारी की विभिन्न समस्याओं का चित्रण ही नाटक का उद्देश्य है । उसका सन्देश यह कि अपने अधिकारों तथा मान-सम्मान की रक्षा के लिए नारी को स्वयं ही सुदृढ़ और सुनिश्चित कदम उठा कर आगे आना होगा, तभी उसके युग-युगों से शोषित-उपेक्षित स्वत्वाधिकारों की रक्षा संभव हो सकेगी । अन्यथा नहीं । निहित स्वार्थों से भरा-पूरा पुरुष समाज स्वेच्छया कभी भी उसे मुक्ति का अधिकार देने वाला नहीं ।

25.9 रंगमंच और अभिनेयता

आजकल नाटक की सफलता का सर्वोत्तम मानदण्ड रंगमंच पर उसकी अभिनेयता को ही स्वीकार किया जाता है । इस आलोक में पहले दृष्टि से देखने पर हम 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में रंगमंच पर अभिनयेता की सम्भावनाओं से इनकार नहीं कर सकते । हाँ, यह नाटक अत्यंत प्रबुद्ध, सुशिक्षित और सहित्यिक रुचियों से सम्पन्न समाज के समक्ष ही पूर्ण सफलता और प्रभावी ढंग से अभिनीत किया जा सकता है ।

नाटक का कथ्य-कथानक सरल और स्पष्ट है । दृश्य-बन्ध भी विशेषत: दो ही हैं । थोड़े-से परिवर्तन के साथ ही तीसरा दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है । नाटक में पात्र भी मूल धारणा और आवश्यकता के अनुरूप कम ही हैं । उनके चरित्र प्रभावी और व्यापक मानव-समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं । ऐतिहासिक परिवेश में थोड़े प्रयत्न से उनकी रूप-सज्जा प्रस्तुत कर पाना भी विशेष कठिन नहीं । पर्दों, विंग्स और रंग-प्रकाश की सहायता से देश-काल के अनुरूप वातावरण की सृष्टि भी हो सकती है । नाटक के कथ्य-कथानक और विकास-प्रक्रिया में प्रेक्षकों को बाँध रखने में समर्थ मार्मिक स्थल, रोचक प्रसंग, नृत्य-गीत आदि भी हैं । कठिनाई है केवल सम्वाद योजना और उनकी भाषा में । भाषा और सम्वादों की काव्यमयता, लक्षणा और व्यंजना अवश्य नाटक और प्रेक्षक के मध्य एक बड़ी बाधा स्वीकारी जा सकती है । यदि उसे दूर किया जा सके, तो कोई कारण नहीं कि थोड़े परिश्रम से रंगमंच पर इस नाटक का अभिनय सम्भव न हो सके ।

इस प्रकार, नाटक के आधुनिक तत्त्वों के आलोक में 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को सामान्यतया पूर्ण सफल नाटक गिना जा सकता है । ज्वलन्त समस्याओं के चित्रण के कारण इस नाटक को कुछ रू-रियायत के साथ एक ....समस्या नाटक भी कह सकते हैं ।

25.10 अभ्यास के प्रश्न :

1. ध्रुवस्वामिनी नाटक का नाट्यकला की दृष्टि से मूल्यांकन कीजिए ।
2. नाट्यकला के तत्त्वों का उल्लेख कीजिए तथा उसके आधार पर ध्रुवस्वामिनी की समीक्षा कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी : संवाद शिल्प एवं भाषा शैली

पाठ संरचना

26.0 उद्देश्य
26.1 परिचय
26.2 संवाद शिल्प
26.3 भाषा शैली
26.4 अभ्यास के प्रश्न

26.0 उद्देश्य

संवाद योजना को सफल बनाने के विविध आयाम पश्चिमी और पूर्वी आचार्यों ने बताए हैं । आरिस्टाटल ने संवाद योजना पर विवेचन करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि संवाद की भाषा असाधारण होते हुए भी स्पष्ट, सुगम होते हुए भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए । सामान्यत: असाधारण भाषा में स्पष्टता और सरलता नहीं होती और सुगम-सुबोध भाषा में व्यंग्य चमत्कार नहीं होता । किन्तु नाटकीय संवाद की यह विशेषता है कि उसमें इन दोनों विरोधी तत्त्वों का समुचित सामंजस्य पाया जाता है । इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी नाटक के संवाद योजना और भाषा शैली से पाठकों को परिचित कराना है ।

26.1 परिचय

प्रसाद की संवाद योजना क्रमश: कला के उच्च शिखर की ओर उन्मुख होती गई । पूर्वी आचार्यों ने संवाद योजना में यह नियम बनाया है कि विद्वान ब्राह्मण, राजा तथा उच्चवर्ग के व्यक्ति संस्कृत तथा अन्य जनप्राकृत-अपभ्रंश में वार्तालाप करें । हिन्दी नाट्यकारों में विश्वनाथ सिंह तथा हरिश्चन्द्र ने बंगाली, मराठी, द्रविड़ आदि अनेक लोकभाषाओं का समावेश इसी सिद्धांत पर किया । प्रसाद ने उपर्युक्त दोनों शैलियों में से एक का भी अनुसरण नहीं किया । उन्होंने अपनी एक नई शैली निकाली । उनके सभी पात्र खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी भाषा में परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रान्त की विभिन्नता के कारण नहीं ।

'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद की धारणा संभवत: इनकी अभिनेयता की ओर सदा बनी रही । प्रमाण यह है कि दोनों नाटकों की संवाद योजना में शब्दों का चयन, भाषा का प्रभाव, भाषण का लाघव, जनता की योग्यता और नाटक के व्यापार पर आश्रित है । प्रसाद का अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी संवाद संबंधी अन्य नाटकों की त्रुटियों से सर्वथा मुक्त है । कथोपकथन की स्वाभाविकता के कारण यह नाटक अभिनय के उपयुक्त बन गया ।

26.2 संवाद शिल्प

हिन्दी समीक्षा में यह प्रवृत्ति बहुधा दिखाई पड़ती है कि समीक्षक को जिस रचनाकार, कृतिवाद विशेष या विषय पर लिखना है, उसे सर्वश्रेष्ठ या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का आग्रह उसके मन में आ जाता है । नाटककार प्रसाद हो या चन्द्रगुप्त या स्कन्दगुप्त हो या नाटकों के चरित्र या गीत या संवाद हों सबके साथ कुछ ऐसी बात है । प्रसाद के नाटकों की संवाद योजना पर विचार करते हुए एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ने लिखा है - ''प्रसाद का नाट्य गौरव न हो तो ऐतिहासिक कथा पर अवलम्बित है और न नारी पात्रों पर वह न अभिनय या गीत पर आधारित है न पूर्वी या पश्चिमी नाट्यशास्त्र के अनुकरण पर । इस नाट्य-गौरव की नींव है प्रसाद का संवाद सौन्दर्य ।'' इसे प्रसाद की नाट्यकला की प्रशंसा कहें या निन्दा ? कला हो या विज्ञान, किसी भी क्षेत्र में साधन अपने साध्य से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, नहीं होना चाहिए । संवाद तो नाटककार के कथ्य को अभिव्यक्त करने और उसे दर्शकों तक सम्प्रेषित करने का साधन मात्र है । प्रसाद के नाट्य गौरव की बात जहाँ आती है, वहाँ उनकी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना, उनके भाव-विचार की ही चर्चा पहले आती है और देखना यह होता है कि नाटक के विभिन्न तत्त्व उनकी अभिव्यक्ति में कितने और कहाँ तक सक्षम बने हैं । इन तत्त्वों में संवाद विशेष महत्त्व का अधिकारी है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । संवाद नाटक का शरीर - इसी में नाटक की आत्मा स्थित रहती है, इसी के चरणों से नाटक का कथानक गतिशील होता है, इसी के हाथों नाट्य-प्रयोजन के विभिन्न कार्य संपन्न होते हैं इसी की भंगिमाओं में नाट्यचरित्रों की विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं, इसी की वाणी में नाटक मुखरित होता है ।

सम्वाद या कथोपकथन नाटक के शरीर, स्वरूप और आत्मा आदि सभी कुछ का विधान-निर्माण करनेवाले मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किए गए हैं । नाटक में भाव, विचार, समस्या, कहानी, चरित्र चित्रण, वातावरण का चित्रण और प्रभाव; अन्तः बाह्य संघर्ष और उसका प्रभाव आदि जो कुछ भी होता या हो सकता है । एक प्रकार से भाव-विचारपूर्ण सम्वादों के मंचीय और अभिनेय संगठन को ही नाटक कहा जा सकता है । सम्वादों के अभाव में मूक अभिनय तो हो सकता है, पर एक समग्र नाटक की कल्पना तक नहीं हो सकती । हमारे इस कथन से नाटक में सम्वादों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

नाटक में सम्वादों का पहला कार्य कथानक का उद्घाटन कर उसे विकास की गति दिशा देना होता है । दूसरा प्रमुख कार्य वक्ता पात्रों के अन्तरंग चरित्र का उद्घाटन करना हुआ करता है । तीसरा कार्य नाटककार के उद्देश्य वर्णित समस्या को उद्घाटित कर उसका चरमोत्कर्ष दिखाना और कुछ सन्देश देना भी हुआ करता है । उसके साथ-साथ स्वाभाविकता और विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए वातावरण के उपयुक्त सृजन का कार्य भी नाटकों में प्रायः संवादों से ही लिया जाता है । इन गुणों या कार्यों से भरपूर सम्वादों में निम्नलिखित कुछ विशेषताएँ भी आवश्यक मानी गई हैं :

सम्वाद संक्षिप्त अर्थात् आवश्यकता से अधिक लम्बे नहीं होने चाहिए । उनमें अभिनेयता का अंश और क्षमता अवश्य रहनी चाहिए । ऐसा न लगे कि पात्र या अभिनेता सम्वाद न बोल कोई भाषण बोल या व्याख्या कर रहा है । सम्वाद सरल और सरस भी होने चाहिए । उन्हें समझने में कठिनाई का अनुभव नाट्य-दर्शन के समूचे उत्साह और उद्देश्य को समाप्त कर सकता है । सम्वादों में अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने की भी पूर्ण क्षमता आवश्यक है । तभी दर्शकों के कौतूहल और जिज्ञासा भाव बुद्धि पाकर नाटक-प्रेक्षण में दत्तचित्त हो सकते हैं । चुटीलापन या व्यंग्य-विनोद की वक्रता को भी अच्छे सम्वादों का एक प्रमुख गुण स्वीकार किया जाता है । वे हास्य-विनोद की सृष्टि भी कर सकते

हैं । दार्शनिक बोझिलता अच्छे-भले संवादों को भी निष्प्राण बना सकती है, फिर भी आवश्यकता और वातावरण के अनुरूप नाटककार को कई बार लक्षणा-व्यंजना आदि का आश्रय लेना ही पड़ता है । परन्तु यदि इस प्रकार के सम्वाद नाटक की आत्मा या मूल-भावना को उजागर करने में सहायक सिद्ध हों तो उन्हें बुरा या अप्रभावी नहीं, बल्कि उचित और प्रभाव में बुद्धि करनेवाला स्वीकार किया जाता है । मुख्यत: सम्वाद-योजना से संबंधित यही गुण-दोष हैं, जिनके आलोक में ध्रुवस्वामिनी नाटक के सम्वादों पर निर्णायक ढंग से कोई विचार-विश्लेषण किया जा सकता है ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के संवाद

श्री जयशंकर प्रसाद का नाटक अपनी मूल संरचना प्रक्रिया में एक कवि हृदय कलाकार की साहित्यिक सर्जना है । इस कारण इसकी सम्वाद योजना में भावना, भावुकता और काव्यमयता का संचार अन्य समस्त आवश्यक गुण-तत्त्वों के साथ प्राय: सर्वत्र देखा जा सकता है । नाटक का पहला ही सम्वाद एक ओर जहाँ प्राकृतिक वातावरण को प्रस्तुत करने वाला है, वहाँ कथानक का सबल उद्‌घाटन कर सम्बद्ध प्रमुख पात्रों के चरित्र और नायिका ध्रुवस्वामिनी के पीड़ित-शोषित मानसिक द्वन्द्व को भी रूपाकार प्रदान कर पाने में समर्थ हो पाया है । देखें :

''(सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र, कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न ! (साथ वाली खड्‌गधारिणी की ओर देखकर) क्यों, मन्दाकिनी नहीं आई ? (वह उत्तर नहीं देती) बोलती क्यों नहीं ? यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्त:पुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला; परन्तु क्या तुम जैसी दासियों से भी वही मिलेगा ? इसी शैल-माला की तरह मौन रहने का अभिनय तुम न करो, बोलो ! (वह दाँत निकालकर विनय प्रगट करती हुई कुछ और आगे बढ़ने का संकेत करती है; अरे यह क्या; मेरे भाग्य विधाता ! यह कैसा इन्द्रजाल ? उस दिन राजपुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, वह क्या अभिशाप था ? इस राजकीय अन्त:पुर में सब जैसे एक रहस्य छिपाए हुए चलते हैं, बोलते हैं और मौन हो जाते हैं । .....इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? जिधर देखो कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे''

सम्वाद कुछ लम्बा अवश्य हो गया है, पर नाटक का समूचा कार्य - कथानक का उद्‌घाटन, पात्रों की मानसिक स्थिति और चरित्र, मूल समस्या और उद्देश्य और प्राकृतिक तथा अन्य प्रकार के वातावरण की भी एक स्पष्ट रूपरेखा इसके द्वारा साकार हो उठती है । यही गुण नाटक के अन्य सभी सम्वादों में जहाँ-तहाँ देखा जा सकता है । कथानक के विकास और पात्रों के चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करनेवाला एक और सम्वाद देखें :

''भला मैं क्या कर सकूँगी ? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती । मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहा !''

विशुद्ध कथानक की रूपरेखा और कार्य-योजना को उजागर करे वाला सम्वाद भी देखें-

''राजाधिराज ! शकों ने किसी पहाड़ी राह से उतर कर नीचे का गिरिपथ रोक दिया है । हम लोगों के शिविर का सम्बन्ध राजपथ से छूट गया है । शकों ने दोनों ही ओर से घेर लिया है ।''

पात्रों के आन्तरिक चरित्र के साथ-साथ संघर्ष की भूमिका देश-काल के राजनीतिक वातावरण को उजागर करनेवाले सम्वादों का भी एक उदाहरण प्रस्तुत है :

''ध्रुवदेवी को लेकर क्या साम्राज्य से भी हाथ धोना पड़ेगा ! नहीं तो फिर ? (कुछ सोचने लगता है) ठीक तो, सहसा मेरे राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, आमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं । (शिखर से) है न ? केवल एक तुम्हीं मेरे विश्वासपात्र हो । समझा न ! यही गिरिपथ सब झगड़ों का अन्तिम निर्णय करेगा । क्यों आमात्य जिसकी भुजाओं में बल न हो, उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए ।'' और वास्तव में यह गिरिपथ ही नाटक में समस्त झगड़ों, अन्त:-बाह्य द्वन्द्वों का निर्णायक बनता है ।

सम्वाद-योजना में नाटककार ने बड़ी कुशलता से अनेकविध लाक्षणिक और अलंकृत प्रयोग भी किए हैं । जैसे-

''मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए ।''

कथावस्तु के विकास में सहायक और नाटक की समस्या की जटिलता की रूपरेखा प्रगट करनेवाला सम्वाद भी देखें :

''कथावस्तु के विकास में सहायक और नाटक की समस्या की जटिलता की रूपरेखा प्रगट करने वाला सम्वाद भी देखें :

''क्षमा हो महाराज ! दूत तो अवध्य ही होता है, इसलिए उसका संदेश सुनना ही पड़ा । वह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का.....विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था, बीच में ही आर्य समुद्रगुप्त की विजययात्रा में महादेवी के पिता जी ने उपहार में उन्हें गुप्त कुल में भेज दिया । इसलिए महादेवी को वह...साथ ही वह अपने सामान्तों के लिए मगध के सामान्तों की स्त्रियों को माँगता है ।''

व्यंग्य के तीखे तेवर भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की सम्वाद-योजना में अनेक स्थानों पर देखने को मिल जाते हैं । इस प्रकार के सम्वाद अपने व्यंग्यों की तीखी बौछार से केवल विद्रूपता को ही नहीं उभारते, बल्कि कथा-सूत्रों को पकड़ा और जोड़कर पात्रों के चारित्रिक पहलुओं को भी उजागर कर जाते हैं । रामगुप्त और आमात्य शिखर स्वामी जब शकराज की सन्धि शर्तों की बात लेकर ध्रुवस्वामिनी के पास पहुँच, उसके तथा सामान्त-स्त्रियों के शक-शिविर में जाने की बात कहते हैं, तो अत्यन्त तीव्र व्यंग्य का प्रहार करते हुए ध्रुवस्वामिनी उनको कहती है :

''इस प्रथम सम्भाषण के लिए कृतज्ञ हुई महाराज ! किन्तु मैं यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढ़ा है ?'' इस पर रामगुप्त जब अपने बौनेपन में कहता है कि ध्रुवस्वामिनी को भेजने या - ''क्या प्राण देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ? ऊँ-हूँ, तब तो महादेवी से पूछिए ।'' यह सुनकर भी ध्रुवस्वामिनी का व्यंग्य उपरोक्त तथ्यों के अनुरूप ही तीव्र रूप से सम्वाद बनकर फूट पड़ता है - ''और आप लोग कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों का नृत्य देखेंगे ।'' इसी प्रकार नाटककार ने रामगुप्त जैसे पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं और हीनताओं को उजागर करने के लिए भी अपनी सम्वाद-योजना को काफी पैना कर प्रयुक्त किया है । ध्रुवस्वामिनी के साथ अग्नि-साक्ष्य के सामने अपने विवाह की बात सुनकर अपनी हीन मानसिकता के सर्वथा अनुरूप ही रामगुप्त कहता है कि ''परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी । मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा । उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर ! (सिर हिलाकर) कदापि नहीं !'' व्यंग्य-विनोद का यह तीखापन हिजड़े-बौने और कुबड़े जैसे पात्रों के सम्वादों में भी देखा जा सकता है ।

नीति और नैतिकता को व्यक्त करनेवाले सम्वाद तो सूक्तियों के समान बड़े ही मार्मिक और प्रभावी बन पड़े हैं । इस पर भी वे जीवन के व्यावहारिक यथार्थ को प्रगट करनेवाले हैं । जैसे मन्दाकिनी का यह कथन – ''मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है । सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छद्म की धूल उड़ती है ।'' इस दृष्टि से कोमा का यह संवाद भी विशेष उल्लेखनीय है – ''प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते । मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है । मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने-आप ही जाल बुनता है ।'' शकराज को समझा रही कोमा का यह कथ्य भी सूक्ति के समान ही अर्थगर्भित और भावपूर्ण है कि – ''अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है ?'' इस प्रकार अन्य अनेक संवाद भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनका महत्त्व नीति, नैतिकता और व्यावहारिकता को प्रगट कर शिक्षाप्रद सूक्तियों से कम नहीं है ।

नाटककार ने सहज मनोविज्ञान के आधार पर मानसिक द्वन्द्व को उजागर करनेवाले अनेक सम्वादों की योजना भी बड़ी कुशलता से की है । इस दृष्टि से एक तो नाटक का पहला सम्वाद ही विशेष उल्लेखनीय है, उसके अतिरिक्त भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । जब ध्रुवस्वामिनी के अनुनय विनय करने पर भी उसे शक-शिविर में जाने को बाध्य करनेवाली बातें कही जाती हैं, तब उसका अन्तर्द्वन्द्व उन शब्दों के विस्फोट में फूट कर मुखर होने लगता है – ''कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उस पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, यह मेरे साथ नहीं चल सकता । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो ।'' इसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी का एक अन्य कथन भी देखिए – ''ओह तो मेरा कोई रक्षक नहीं ? (ठहर कर) नहीं, मैं अपनी स्वयं रक्षा करूँगी । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है ।''

कवि होने के कारण काव्यमयता को भी प्रसाद के नाटकों की सम्वाद योजना का एक प्रमुख गुण माना जाता है । इस काव्यमयता के दर्शन यों तो उनके प्रत्येक सम्वाद में किए जा सकते हैं, पर कहीं-कहीं वे अत्यधिक काव्यमय हो उठते हैं, जैसे – 'मेरा नीड़ कहाँ ? वह तो स्वर्ण पिंजर है ।'' और ''....प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही कोई जो विछलन बनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलम्ब बन गई है ।'' और भी –''विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है ।'' इसी प्रकार सम्वाद की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं – ''उनको तो स्वयं अपने भीषण भविष्य का पता नहीं । प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है । वातावरण की सजीव सृष्टि करनेवाले सम्वाद भी नाटक में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं । एक उदाहरण प्रस्तुत है, जो छायावादी कविता के समान सुघड़-सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करने वाला है :

'देवि, वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गई है, उसकी नन्ही-नन्हीं पत्तियों को देख आप समझ जाएँगी कि वह काई की जाति की है ।'' इसी प्रकार और भी देखें – 'देवि, सायंकाल हो चुका है । वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी हैं । देखिए न, व्योम-विहारी पक्षियों का झुण्ड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है ।''

इस प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के सम्वादों की यह सोदाहरण विवेचना स्पष्ट कर देती है कि योजित सम्वाद कथ्य, कथानक, पात्रों के चरित्र, देशकाल आदि सभी तथ्यों को उजागर कर पाने में पूर्णतया समर्थ हैं । इस कारण सार्थक और प्रभावी भी हैं । यदि उनकी भाषा भी कुछ और तरल-सरल होती, तो नाटक के आम प्रेक्षक के लिए भी वे और अधिक उपयोगी हो सकते थे ।

26.3 भाषा-शैली

प्रसाद जी युग के गहन मनीषी हैं । जिस प्रकार उन्होंने अपने युग के लिए सांस्कृतिक चेतना एवं भारतीय विचारधारा की व्यवस्था की आवश्यकता समझी उसी प्रकार युगानुरूप भाषा का सुदृढ़ गढ़ निर्माण करने के लिए भी उन्होंने सतत् प्रयत्न किया । उन्होंने अपने नाटकों में चित्रण किया है वह काल 'संस्कृत काल' नाम से जाना जाता है । उस युग के किसी भी नाटक में ब्रदेश के अनुसार भाषा का वैचित्र्य नहीं दिखाई देता है, जैसे -कुलीन और उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत बोलते थे, स्त्रियों और मध्यम वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते थे । पर आज के युग में इस प्रकार की भाषा-विषमता सम्भव नहीं थी, उसमें भाषा की एकरूपता आवश्यक थी, फिर जबकि अतीत का उत्कर्ष भाषा और विचारों के माध्यम से ही देखना था । पुनः जब हमें अपने स्वर्ण-युग का प्रतिनिधत्व करना हो, तो किस प्रकार हम भाषा-वैषम्य हो तो उसमें सजीवता ला सकते हैं । संस्कृत-युग के नाटकों की भाषा को यह अस्वाभाविकता भी खटकती थी कि समाज में यद्यपि नारियों को स्थान तो बहुत उच्च दिया गया था, वे शिक्षित मानी जाती थीं, उनमें दैवी शक्तियाँ भी जागरूक थीं, फिर क्योंकर उनके मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं कराया गया ? उस समाज में तो सम्भव है ऐसी विषमता नहीं रही होगी, फिर नाटककारों ने अपनी रचनाओं में ऐसी विषमता क्यों भरी ? प्रसाद जी ने इन समस्याओं का अध्ययन-मनन किया और उसका समाधान भाषा की एकरूपता में किया । हाँ, भाषा-परिवर्तन भी उनके नाटकों में मिलता है पर वह भाषा-परिवर्तन पात्रों के मनोविज्ञान के ऊपर आधारित है । इसलिए तो सारे पात्र नाटककार को मुट्ठी के खिलौने होते हुए भी, प्रसाद के पात्र अपना पृथक-पृथक व्यक्तित्व रखने में समर्थ हैं, क्योंकि पात्रों की भाषा की श्रेणी स्वतः ही परिवर्तित होती रहती है ।

प्रसाद के नाटकों पर रंगमंच की दृष्टि से दोष लगाया जाता है - भाषा की एकरूपता का । दोष का यह आधार लेते हैं कि सिकन्दर, सेल्यूकस, कार्नेलिया जैसे विदेशी पात्र कैसे ऐसी शुद्ध हिन्दी बोल सकते हैं ? उन्हीं की संस्कृति, देश और परिस्थिति के अनुसार भाषा-प्रयोग का अपना दृष्टिकोण प्रसाद जी का पृथक ही है । उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषा का अजायबघर बनना पड़ता है जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों को इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है । इस पर जिनसे 'रंगमंच शीर्षक' निबन्ध लिखा हो, जिसमें उनके रंगमंचीय और भाषा संबंधी विचार पूर्ण रूप से व्यक्त हैं । उस पर रंगमंचीय अज्ञानता और भाषा संबंधी दोष कैसे लगाया जा सकता है । भाषा संबंधी उन्हीं के विचार देखिए -

"भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है । ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं किन्तु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गई गजल के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियाँ पीटते हैं । .....एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों को अपनी होनी चाहिए और एक तरह से देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है । मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह बहुत परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी । सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थी । वर्तमान युग की भाषा-संबंधी प्रेरणा कुछ वैसी ही है; किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटकों में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है । फिर राजपूतों को राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए । यदि अन्य असभ्य पात्र है तो उनकी जंगली भाषा भी आनी चाहिए और इतने पर भी क्या यह नाटक हिन्दी की तरह ही रह जाएगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है । मैं तो यह कहूँगा कि सरलता और

क्लिष्ट पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होनी चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं ।''

उपर्युक्त उद्धरण से प्रसाद के भाषा-संबंधी विचारों का स्पष्टीकरण हो जाता है । प्रसाद के सम्मुख हिन्दी के भविष्य-निर्माण का प्रश्न था, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी होने के नाते उसकी एकरूपता का प्रश्न था, उसकी समृद्धि भारतीय एकता पर आधारित होनी थी । प्रसाद ने ऐसा करने के लिए ही अपने नाटकों में शुद्ध गरिमामयी हिन्दी का प्रयोग किया है । इस पर प्रसाद का युग म्नोविज्ञान-युग था । वे देखते-देखते अपने युग के मनोविज्ञान की हत्या नहीं कर सकते थे; इसलिए उनकी भाषा में उसी मनोवैज्ञानिकता का प्रतिनिधित्व हुआ है, तभी तो प्रसाद की भाषा की सरलता और क्लिष्टता पात्रों की भावनाओं पर आधारित होकर प्रकट हुई है ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के सर्जक नाटककार जयशंकर प्रसाद स्वभावत: और मूलत: कवि है, वह भी सौन्दर्य का शोध करनेवाले, कोमल-कान्त के चितरे छायावादी कवि । अत: स्वभावत: उनकी भाषा में काव्यमयता, चित्रमयता, लाक्षणिकता, व्यंजकता और आलंकारिता के गुण आ गए हैं । यों दृश्य काव्य होने के कारण नाटकों में इस प्रकार की भाषा-शैली उपयुक्त नहीं मानी जाती, पर प्रसाद जी और उनके साहित्यिक नाटकों की यह विवशता है कि इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करें । अत: एक वाक्य में उनके इस नाटक की भाषा को भी उनके अन्य नाटकों की भाषा के समान तत्सम-शब्द-प्रधान विशुद्ध साहित्यिक भाषा कहा जा सकता है । उनके भाषा शैली-शिल्प में यह विशेषता अवश्य रेखांकित की जा सकती है । वर्ण्य-विषय और प्रसंग के अनुकूल, शास्त्रीय दृष्टि से उसमें माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों का समावेश निरायास ही होता जाता है । एक उदाहरण देखें -

''कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।

इसी प्रकार जब प्रसाद कोमल और प्रणय-प्रसंगों का वर्णन करते हैं, तो उनके भाषा-शैली-शिल्प में भी एक प्रकार की कोमल, कान्त स्निग्धता का संचार होने लगता है, जैसे-''कितना अनुभूति पूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन । कितने-कितने सन्तोष से भरा था । नियात ने अज्ञात-भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश में मिला दिया हो ।'' इस कथन में भाषायी काव्यमयता भी दर्शनीय है ।

नाट्य-शैली-शिल्प की दृष्टि से आधुनिक यथार्थवादी या समस्या-नाटकों के शिल्प को अपना कर भी नाटककार प्रसाद उसे तदनुरूप नहीं बना सके । भावना, भावुकता और गीतों के समावेश ने शिल्पिक स्तर पर नाटक को पूर्ण आधुनिक नहीं बनने दिया । प्रसाद जी का दृष्टिकोण यहाँ भी रसवादी ही अधिक प्रतीत होता है । प्रसाद जी के नाट्य-शिल्प के बारे में कहा जाता है कि उसका अन्त सुख-दुखात्मक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के कारण 'प्रसादान्त' हुआ करता है । यहाँ भी स्थिति बिलकुल ऐसी ही है । एक ओर अधिकार च्युत रामगुप्त का मारा जाना, दूसरी ओर चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार के साथ ध्रुवस्वामिनी भी मिल जाना आदि को प्रसादान्त शिल्प ही स्वीकारा जा सकता है ।

इस प्रकार आलोच्य नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के भाषा-शैली-शिल्प को एक शब्द में 'कवि प्रसादमय' और 'प्रसादान्त' कह कर ही सफल परिभाषित कर सकते हैं ।

26.4 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी के संवाद शिल्प का विवेचन कीजिए ।
2. ध्रुवस्वामिनी की भाषा शैली का उल्लेख कीजिए ।
3. ध्रुवस्वामिनी नाटक के संवाद शिल्प एवं भाषा शैली की संक्षिप्त विवेचन कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण

पाठ संरचना

27.0 उद्देश्य
27.1 परिचय
27.2 ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण
27.3 शोषित-पीड़ित नारी
27.4 वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट नारी
27.5 प्रवंचित प्रेमिका
27.6 परम्परा तोड़नेवाली विद्रोहिणी नारी
27.7 साहसी और वीर रमणी
27.8 अभ्यास के प्रश्न

27.0 उद्देश्य

प्रसाद नाट्यालोचना के सामान्यत: सर्वस्वीकृत तथ्यों में एक यह भी है कि प्रसाद के नाटक चरित्र प्रधान हैं। आचार्य वाजपेयी ने लिखा है: 'प्रसाद कवि थे; इसलिए वस्तुविन्यास उनकी विशेषता नहीं है। चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण हैं। व्यक्ति के चित्रों के अंकन में उन्हें अधिक सफलता मिली है। चरित्र निर्माण सम्बन्धी उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सभी पात्रों में अलग व्यक्तित्व योजना का ध्याना रखा है।' प्रसाद जी के नाटकों में चरित्र चित्रण प्रधान होने के कारण उसके अंगभूत मनोवैज्ञानिक पक्ष का सुन्दर निरूपण है।' प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी के चरित्र से पाठकों का परिचय कराना है।

27.1 परिचय

नाटकों की चरित्रप्रधानता को सूचित करनेवाला एक तत्त्व उनमें चित्रित संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व है। अन्तर्द्वन्द्व मानवीय चरित्र में ही संभव है और नाटक में इनकी उपस्थिति से ज्ञात होता है कि पात्र मनुष्य और जीवित हैं। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रित स्वरूप, शक्ति एवं विश्वसनीयता के आधार पर भी निर्णय किया जा सकता है कि नाटक में चरित्र को कितना महत्त्व दिया गया है।

पात्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व उनके कार्यव्यापारों के विकल्प और उनके अन्तर्द्वन्द्व के प्रश्न एक-दूसरे से हुए हैं। अनेक विकल्पों में से किसी एक का निर्धारण अन्तर्द्वन्द्व के भीतर से ही होता है, और यह निर्धारण उसी के द्वारा संभव है जिसका स्वतंत्र व्यक्तित्व रहता है। इन तीनों को परस्पर विच्छिन्न कर देखना कठिन है।

27.2 ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में स्वयं ध्रुवस्वामिनी ही नायिका है । समूचे नाटक का विधान और क्रियाकलाप इसी के व्यक्तित्व और चरित्र के आसपास गठित किया गया है । इसी बात से इसके व्यक्तित्व और चरित्र के माध्यम से नाटककार प्रसाद ने युग-युगों से पुरुष-समाज द्वारा शोषित-पीड़ित नारी समाज की व्यथा-कथा तो कही ही है; अपने स्वत्वाधिकारों की प्राप्ति के लिए लड़ा और अन्यायी-अत्याचारी पुरुष के हाथों से मुक्ति पाने की छटपटाहट को भी रूपाकार प्रदान किया है । इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी का चरित्र केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में ही नहीं, आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में भी समूची नारी-जाति का प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आता है ।

व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि - मूल दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी एक शक राजकुमारी ही है । सम्राट चन्द्रगुप्त के विजय-अभियान के समय ध्रुवस्वामिनी के सासन्त राजा पिता जब सन्धि करने को बाध्य होते हैं, तो उस युग की राजनीतिक-संधि शर्तों के अन्तर्गत ध्रुवस्वामिनी को भी अनेक उपहारों में से एक उपहार बनकर गुप्तवंश में इस विश्वास के साथ आना पड़ता है कि उसका विवाह मगध के उत्तराधिकारी या भावी सम्राट से होगा । वह अपने घर से गुप्त कुल तक अपने पहरे में लेकर आनेवाले गुप्त राजकुमार चन्द्रगुप्त से प्रेम भी करने लगती है और यह भी जानती है कि कुमार चन्द्रगुप्त ही सम्राट चन्द्रगुप्त का घोषित उत्तराधिकारी है । नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी को गुप्त वंश आने से पहले शकराज की मंगेतर भी दिखाया है, पर परिस्थितियाँ उसे गुप्तकुल में ले आती हैं और वह अपने मंगेतर को तो क्या इच्छित प्रेमी को भी प्राप्त नहीं कर पाती । ब्याही जाती है अनमेल अयाचित रामगुप्त से, जो स्पर्श तक न कर उसे एक बार फिर उपहार की वस्तु बना देता है, पर बाद में चन्द्रगुप्त आदि के प्रयत्नों से उसे मुक्ति मिल पाती है । संक्षेपतः यही नाटक का कथानक भी है और ध्रुवस्वामिनी का चरित्र भी । इसी के आलोक में हम विभिन्न शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत उसका चरित्र-चित्रण कर सकते हैं, जो इस प्रकार है :

27.3 शोषित-पीड़ित नारी

नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी को युग-युगों से शोषित-पीड़ित होती चली आ रही नारी का प्रतिनिधि बना कर नाटक में प्रस्तुत किया है । एक सम्भ्रान्त कुल की नारी के जीवन की इससे बड़ी भला क्या विडम्बना हो सकती है कि उसे पुरुष से स्नेह, प्यार, सम्मान तो क्या मिलना, दो-दो बार महज उपहार की वस्तु बनकर रह जाना पड़े । पति और उसका घर नाम से यदि कुछ मिले भी तो वहाँ उसे स्नेह-वंचिता, परित्यक्ता और बन्दी का सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य होना पड़े । यह भी तो एक प्रकार का शोषण है, जिसका शिकार ध्रुवस्वामिनी को बार-बार होना पड़ता है । शोषण की यह पीड़ा समूचे नाटक के क्रियाकलापों पर कुछ इस प्रकार छाई रहती है कि आद्यन्त उसकी ध्वनि-प्रतिध्वनि ध्वनित होती रहती है । उस पर पहरे तक बिठाए गए हैं और वह भी गूंगे-बहरे, ताकि वह सुन-बोल तक भी न सके । यह पुरुष द्वारा नारी-शोषण की इन्तहा है । कोई भी व्यक्ति नाटक की अन्तः यात्रा से इस शोषणजन्य पीड़ा का अनुभव कर सकता है ।

27.4 वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट नारी

नाटककार जयशंकर प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण इस प्रकार से किया है कि जो अयाचित और अनमेल विवाह तथा उसके बाद की परिस्थितियों से असंतुष्ट पूरी नारी-जाति का प्रतिनिधित्व करता है । उसके लिए

उस असन्तोष के कारण घर-परिवार और सभी कुछ एक पीड़ादायक अनुभूति बन जाता है । तभी तो सायंकाल के दृश्य का वर्णन कर घर की याद दिलाने वाली दासी से ध्रुवस्वामिनी कहती है कि -''चलूँगी क्यों नहीं ? किन्तु मेरा नीड़ कहाँ ? यह तो स्वर्ण-पिंजर है ।'' घर को स्वर्ण-पिंजर बनाने वाला और कोई नहीं, उसका अपना ही पति नामक पुरुष है, जिसने अग्नि-साक्ष्य से उसके साथ विवाह तो कर लिया है, पर पत्नी की तरह सद्व्यवहार तो क्या कभी सीधे मुँह बात तक नहीं की । उल्टे बचपन की यातनाएँ ही दी हैं । ऐसी स्थिति में ध्रुवस्वामिनी के रूप में किसी नारी का विवाह संस्था के ही विरूद्ध हो जाना नितान्त स्वाभाविक बात लगती है । तभी तो तीसरे अंक में ध्रुवस्वामिनी महादेवी होने से, धर्मशास्त्र की आज्ञा मानने से इनकार कर देती है । मन्दाकिनी ध्रुवस्वामिनी को लेकर विवाह-संस्था के बारे में उचित ही कहती है कि - ''नारी हृदय, जिसके मध्य बिन्दु से हटकर शास्त्र का एक मंत्र, कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्तन-चक्र में घुसने से रोक रहा है ।'' पर प्रश्न उठता है कि अयाचित और अनवरत तिरस्कार देने वाले असन्तुष्ट वैवाहिक जीवन का यह बन्धन आखिर कब तक ? अन्त में ध्रुवस्वामिनी अपने विद्रोह का स्वर मुखरित कर इस अनैतिक बन्धन से न्याय-सम्मत मुक्ति पा ही लेती है ।

27.5 प्रवंचित प्रेमिका

नाटककार प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप ही ध्रुवस्वामिनी को प्रेम से वंचित नारी के रूप में चित्रित किया है । यह प्रवंचना उसे कई स्तरों पर झेलनी पड़ती है । सबसे पहली बार वह शकराज की मंगेतर बनती है । स्वभावत: भावी विवाह की सम्भावना से अज्ञात भाव से ही सही, वह उससे पतित्व-भाव का प्यार संजोने लगी होगी । परन्तु राजनीतिक कारणों से शकराज के साथ उसका विवाह न हो सका और उसे सन्धि शर्तों के अनुरूप उपहार बनकर गुप्तवंश में आना पड़ा । उसे यहाँ लाने वाले व्यक्ति कुमार चन्द्रगुप्त के आकर्षक व्यक्तित्व, विनम्रता और सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर ध्रुवस्वामिनी उसे अपना प्रेमी और भावी पति (क्योंकि सम्राट समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर रखा था और ध्रुवस्वामिनी का विवाह राज्याधिकारी के साथ ही होना था) के रूप में देख उससे प्रेम करने लगी । पर इस बार भी भाग्य ने साथ न दिया और राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार होकर उसे रामगुप्त जैसे व्यक्तित्वहीन व्यक्ति से विवाह करने को बाध्य होना पड़ा । अपनी नियति को ऐसा ही मान ध्रुवस्वामिनी ने आ बनी परिस्थितियों से मन ही मन समझौता करके शान्त जीवन जीना चाहा, पर उसके लिए पति के प्रेमपूर्वक विश्वास और जिस स्थान-सम्मान की आवश्यकता थी, जिसकी वह अधिकारिणी भी थी, वह सब उसे प्राप्त न हो सका । उल्टे एक बार फिर उसके पति रामगुप्त ने ही राजनीतिक षड्यंत्र का सहारा लेकर उसे शकराज के लिए उपहार की तुच्छ वस्तु बना दिया । उसके उस क्षण की मन:स्थिति का आभास होते हुए भी रामगुप्त ने उचित ही विश्लेषण किया है :

''आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन में टीस है (कुछ सोचकर) जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उस में एक गंभीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा ।''

प्रेम से प्रत्येक कदम पर वंचित रहनेवाली ध्रुवस्वामिनी के मन में इस जीवन के प्रति ऊब भी हो सकता है और विद्रोह का भी भाव प्रबलता पा सकता है । जो हो, नाटक में ध्रुवस्वामिनी को सभी स्तरों पर, सभी स्थितियों में प्रेम-वंचिता ही दिखाया जाता है; उसकी इस प्रवंचना से ही वस्तुत: कथानक विकसित होकर चरम परिणति प्राप्त करता है और कथ्य भी स्पष्ट होकर, निश्चित परिणाम के रूप में सामने आ पाता है ।

27.6 परम्परा तोड़नेवाली विद्रोहिणी नारी

नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का गठन वस्तुत: प्राचीन और आधुनिक नारी के गुण-स्वभाव का सघन, सुन्दर समन्वय करके किया है । यही कारण है कि आरंभ में उसे हम परम्परागत नारी के समान प्रत्येक अनिच्छित-अयाचित परिस्थिति को भी अपनी नियति मानकर उसे स्वीकार करते जाते देखते हैं । यह भी देखते हैं कि कुमार चन्द्रगुप्त के प्यार को अपने हृदय की गहन गुफाओं में कहीं छिपाकर परिस्थितियों से प्राप्त पति रामगुप्त के साथ ही निर्वाह करना चाहती है । इस बारे में वह नितान्त असमर्थ-विवश यानी पूर्णतया परम्परागत नारी ही लगती है । भारतीय परम्परागत नारी के समान ही वह पति के प्रत्येक प्रत्यक्ष-परोक्ष उत्पीड़न को आँखें मूँदकर सहन करती जाती है । पर जब पति रामगुप्त और आमात्य शिखरस्वामी द्वारा राज्य-रक्षा के नाम पर उसे शक-दुर्ग में भेजने का षड्यंत्र था । उसके मर्म पर चोट करने की चेष्टा करते हैं, तब ध्रुवस्वामिनी का आहत स्वाभिमान विद्रोही स्वर में जाग उठता है । उसके विद्रोही स्वर की पहली प्रतिक्रिया इस प्रकार होती है :

"किन्तु मैं यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढ़ा है ?" इस पर भी जब उसके मान-सम्मान और अधिकार-रक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, तो उसका विद्रोही स्वर प्रबल और विस्फोटक होकर, प्रश्नात्मक और धमकीपूर्ण बनकर मुखरित हो उठता है - "कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।" पर इस पर भी जब षड्यंत्रकारी पुरुष रामगुप्त और शिखरस्वामी राजनीतिक नियमों और राज्य-रक्षा की दुहाई देकर उसे भेजने का हठ करते हैं, तो उसका आक्रोश भरा विद्रोही स्वर और भी उग्र हो उठता है-"मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूँगी ।" और भावावेश में वह आत्महत्या कर लेना चाहती है, पर ठीक समय पर चन्द्रगुप्त के पहुँचने से उसके तन-मन और सम्मान की रक्षा हो जाती है । शकराज के बाद शकदुर्ग में भी ध्रुवस्वामिनी परम्परा के विरूद्ध विद्रोह करती है । इस विद्रोह को मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, राजपुरोहित और परिषद् का सहारा मिलता है । परिणामस्वरूप अन्त में वह अपनी अयोचित स्थितियों से मुक्ति पाकर पति के रूप में प्रेमी और वास्तविक अर्थों में महादेवी का पद पा लेती है ।

27.7 साहसी एवं वीर रमणी

नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी को सहनशील, धीर और घुटनशील नारी तो दिखाया ही है, उसे साहसी एवं वीर नारी के रूप में भी चित्रित किया है । वह प्रत्येक स्थिति का साहस नहीं छोड़ती । अपने सतीत्व एवं आत्मसम्मान की रक्षा के लिए प्राणों की परवाह भी नहीं करती । रामगुप्त और शिखरस्वामी द्वारा शकदुर्ग में जाने का दबाव डालने पर अपनी जान आप ले लेने का प्रयास एक ओर जहाँ नारी की विवशता को चित्रित करनेवाला है, वहाँ उसके साहस का भी परिचायक है ! नारी बने चन्द्रगुप्त के साथ शकदुर्ग में जाने की बात सुन कर भी वह घबराती नहीं, अपितु उत्साहपूर्वक वीरतापूर्ण अभियान में उसकी संगिनी बन जाती है । यह आशंका रहते हुए भी शक-दुर्ग में जाकर उसकी मृत्यु भी हो सकती है और उसके नारीत्व पर आघात होकर शत्रुओं के हाथों पड़कर उसे हर प्रकार से अपमानित भी होना पड़ सकता है, फिर भी घबराती नहीं । वहाँ अपने शरीर के गाहक और शिकारी शकराज के सामने भी वह घबराती नहीं, बल्कि योजनाबद्ध अभिनय करती है । उसके उत्साह एवं वीरत्व से ही कुमार चन्द्रगुप्त को बल मिलता

है । परिणामस्वरूप वे दोनों शकराज को समाप्त कर, अपने महान वंश, व्यक्ति, देश, राष्ट्र और जाति सभी का सम्मान बचा लेते हैं । उसका साहस और वीरत्व ही अन्त में उसे सभी प्रकार के खोए अधिकार और स्वत्व दिलाने में रक्षा करता है ।

इन प्रमुख गुणों-कार्यों के अतिरिक्त यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ध्रुवस्वामिनी अनिन्ध्य सुन्दरी और आकर्षक व्यक्तित्व वाली नारी है । रामगुप्त जैसा क्लीव पुरुष भी उसके सौन्दर्य और आकर्षक व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करता है । तभी तो वह उसे 'सोने की कटार' कहता है और उसके द्वारा पत्नी रूप में रक्षा करने का अनुरोध करने पर कहता है – 'तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में नहीं डुबो सकता ।'' सचमुच ध्रुवस्वामिनी का कटीला सौन्दर्य और व्यक्तित्व कटार बन करके ही रामगुप्त और शकराज के सीने में उतर आतंक एवं अत्याचार का तो अन्त कर ही जाता है, अपनी तथा राज्य-राष्ट्र की रक्षा कर पाने में भी समर्थ होता है । शकराज उसके सौन्दर्य-दीप का पतंगा बनकर ही जल मरता है । इतिहासकारों ने भी ध्रुवस्वामिनी को एक अत्यधिक सुन्दर आकर्षक व्यक्तित्व वाली नारी के रूप में ही चित्रित किया है । कुमार चन्द्रगुप्त जैसे धीर, वीर, गम्भीर और आकर्षक व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही कहा जाएगा ।

मुख्यत: और मूलत: नाटककार जयशंकर प्रसाद ने इन्हीं रूपरेखाओं पर नाटक में ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण किया है । वह सच्चे अर्थों में एक भारतीय नारी के प्राचीन-आधुनिक सभी प्रकार के व्यक्तित्व के उज्ज्वल पहलुओं को उजागर करने वाला, इतिहास और साहित्य का एक अमर नारी पात्र है । नाटक में सभी प्रकार की तात्विक दृष्टियों से ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व, कृतित्व और इन सबसे उजागर होने वाले चरित्र को सफल-सार्थक कहा जाएगा ।

27.8 अभ्यास के प्रश्न

1. ध्रुवस्वामिनी के चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
2. सिद्ध कीजिए कि ध्रुवस्वामिनी में नायिका होने के सारे गुण विद्यमान हैं ।

ध्रुवस्वामिनी और प्रसाद की नाट्यकला

पाठ संरचना

28.0 उद्देश्य
28.1 परिचय
28.2 प्रसाद के नाट्यकला
28.3 अभ्यास के प्रश्न

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी के आधार पर प्रसाद की नाट्यकला के मूल्यांकन से पाठकों को परिचय कराना है ।

28.1 परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी नाट्य कला और नाट्य विद्या को पुनर्जीवित कर उसे नव निर्माण और विकास की गति दिशा जिस प्रतिभाशाली कलाकार में अथक लगन और परिश्रम से काम लेकर प्रदान की, वह श्री जयशंकर प्रसाद ही थे ।

28.2 प्रसाद के नाट्यकला

सन् 1910-11 से सज्जन नामक एक लघु नाटिका रचकर उनकी नाट्यकला की यात्रा आरंभ होती है और सन् 1933 में 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे उत्कृष्ट कलात्मक नाटक की रचना तक, विकास के अनेक पड़ावों को कुशलता से पार करती हुई वह निरन्तर विकसित होती जाती है । अपने समस्त नाटकों की रचना प्रसाद जी ने भारतीय सभ्यता-संस्कृति के उदात्त तत्त्वों को आधार बनाकर, आधुनिक काल में भी जाति और राष्ट्र के लिए सर्वथा उपयोगी एवं प्रेरणा-उत्साहदायक मानकर की है । ऐसा करने के लिए भारत के प्राचीन इतिहास के खण्डहरों, उज्ज्वल पृष्ठों और शास्त्रों के व्यापक-विस्तृत पर्यावरण में गहरे उतरकर ऐसे-ऐसे उपयोगी एवं सार्थक कथ्य-कथानक खोज लाए जिनका समसामयिक महत्त्व तो था ही, शाश्वत राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और महत् मानवीय महत्त्व भी है । उनके सभी नाटकों के कथ्य-कथानकों पर नैतिकता और सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध-सांस्कृतिक-सिद्धान्तों का प्रभाव तो है ही, आधुनिक गाँधीवादी महत् मानवीय मूल्यों का भी प्रभाव है । इस प्रभाव को आत्मसात् करते हुए उन्होंने सहज मानवीयता के सन्दर्भों में मानवीय ऊर्जा, वीरत्व और उदात्त शौर्य की भी कहीं उपेक्षा नहीं की । इन सब ने उन्हें राष्ट्रीय सभ्यता-संस्कृति के उद्रात्त तत्त्वों का पुजारी, संरक्षक और चितेरा तो बना ही दिया है, उनकी रचनाओं को महत् मानवीय

आयाम एवं पर्यावरण भी प्रदान कर दिया है । कथ्य, कथानक, विषय-वर्णन और समस्या आदि के चित्रण की दृष्टि से इन्हीं बातों को मुख्यत: प्रसाद जी की नाट्यकला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रेखांकित किया जा सकता है । किसी साहित्यकार और उसके साहित्य की इससे बड़ी अन्य कोई उपलब्धि स्यात् हो भी नहीं सकती ।

आधार-रूप में नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने सभी नाटकों में मुख्यत: विशुद्ध ऐतिहासिक कथानकों और कहीं-कहीं इतिहास-कल्पना-मिश्रित कथानकों को ही अपनाया है । यह भी सांस्कृतिक ऐतिहासिक तत्त्वों और तथ्यों को अधिक महत्त्व दिया है । इस दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र का कथन विशेष उल्लेख्य एवं दर्शनीय है - "प्रसाद जी के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है । आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास के प्राय: वही परिच्छेद हैं, जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी ।" प्रसाद जी की नाट्यकला के उत्कर्ष के सम्बन्ध में डॉ० जगन्नाथ प्रसाद लिखते हैं - "एक ओर तो उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के अंगों का परिपाक हुआ और दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्त का समावेश भी अपने नाटकों में दिखाया है । हमारे विचार से आरम्भिक रचनाओं में प्रसाद का झुकाव प्राचीन अथवा भारतीय सिद्धान्तों की ओर है, और वह धीरे-धीरे अर्वाचीन की ओर झुकते गए । 'सज्जन' के कथोपकथन भी संस्कृत नाटकों की शैली के हैं । उनमें यथास्थान पद्य का सम्मिश्रण है ।" पर 'सज्जन' के बाद उनकी नाट्यकला में क्रमश: अधिकाधिक आधुनिक नाट्यकला के प्रभाव से नव निखार आ तो गया है । 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' जैसे नाटकों में यह नवीन प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होने लगता है । पर जैसे ही प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के रचनाकाल में पहुँचते हैं, नाट्यशिल्प के स्तर पर यद्यपि सम्पूर्णतया तो नहीं, परन्तु अधिकांशत: यह आधुनिकता को अपना लेते हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' में से यदि भावुकता, भावना, गीत और सम्वाद योजना को निकाला जा सके, तो उसका बाकी सभी कुछ आधुनिक यथार्थवादी, बल्कि समस्या-नाटक के शैली-शिल्प के सर्वथा अनुरूप है । हमारा विश्वास है कि प्रसाद जी यदि जीवित रहते और अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के बाद अन्य कोई नाटक रचते, तो निश्चय ही उसमें भावना, भावुकता, गीत और काव्यमयता आदि का अभाव रहता । वह 'ध्रुवस्वामिनी' के माध्यम से वस्तुत: इसी प्रकार के समग्र और सम्पूर्ण आधुनिक यथार्थवादी नाट्यशिल्प की ओर ही बढ़ रहे थे ।

प्रसाद जी की नाट्यकला में क्रमश: विकास और निखार आया है, यह बात हम ऊपर कह आए हैं । तभी तो 'सज्जन' के बाद प्रस्तावना, सूत्रधार, नर-नारी के प्रवेश, नान्दी और भरतवाक्य जैसी योजनाओं को बाद में क्रमश: निकास मिलता गया है । कुछ लोग मानते हैं कि प्रसाद जी नाटकों में रंगमंच पर हत्या, मृत्यु आदि दिखाने के कुछ वर्जित दृश्यों की योजना मिलती है । इस सम्बन्ध में यह एक ध्यातव्य तथ्य है कि इस प्रकार की वर्जना भारत की प्राचीन नाट्यकला और नाट्यशास्त्रों में रही होगी, आधुनिक नाट्यकला में ऐसी कोई वर्जना नहीं है । आज के रंगमंचीय नाटकों में तो सभी प्रकार के कथ्य-कथानक की आवश्यकता के अनुरूप दृश्यों को दिखाने की पूरी छूट है । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अपने नाटकों में प्राचीन दृष्टि से वर्जित दृश्यों का विधान करके प्रसाद जी की नाट्यकला ने पूर्ण आधुनिकता की ओर ही अपना कदम बढ़ाया । इससे उनकी दूरदर्शिता ही प्रमाणित होती है । यह तथ्य भी विशेष ध्यातव्य है कि प्रसाद जी का कोई नाटक चाहे प्राचीन नाट्यशिल्प में रचा गया हो और चाहे नवीन, ऐतिहासिक सन्दर्भों में उन्होंने आधुनिक और समसामयिक समस्याओं, प्रश्नों का चित्रण बड़ी ही कलात्मक कुशलता से किया है । इस तथ्य को प्रसाद जी के नाट्यशिल्प की एक अतिरिक्त विशेषता रेखांकित किया जा सकता है ।

प्रसाद जी के नाटकों के कथ्य-कथानक के अनुरूप उनमें पात्रों के योजन भी प्रमुखत: इतिहास-सम्मत ढंग

से और सामान्यत: इतिहास और कल्पना के उचित सम्मिश्रण से हो पाई है । विशेषत: यह है कि कल्पित पात्रों को भी अपनी कुशलता से वह पूर्ण ऐतिहासिक बना देते हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के मन्दाकिनी, कोमा, राजपुरोहित जैसे कल्पित पात्र उनकी इस नाट्यकुशलता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । ऐसा इस कारण होता है कि स्वभावत: वह अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण उचित परिप्रेक्ष्यों में सहज मनोविज्ञान का सहारा लेकर करते हैं । पात्रों को वह अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त दिखाते हैं, जबकि बाह्य संघर्ष भी रहता ही है । दूसरे प्रसाद जी नाटकों के पात्र अपने जातीय संस्कारगत भावों की सीमा-रेखा में ही अपने आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व, चरित्रगत द्वन्द्व को सम्पूर्ण शक्ति के साथ रूपाकार देने का प्रयत्न करते हैं । इससे उनकी मूल विशेषता बनी रहकर भी कल्पित को ऐतिहासिक और ऐतिहासिक को सार्वकालिक आयाम प्रदान कर देती है । उनकी पात्र योजना में प्राय: वैषम्यों का परिहार करनेवाला भी कोई-न-कोई पात्र रहता ही है । उसके कार्यों से अन्य पात्रों को भी व्यापक आयाम और आधार प्राप्त हो जाया करता है । इससे इतिहास और कल्पना का अन्तर भी मिट जाया करता है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में विशेषत: मन्दाकिनी, राजपुरोहित और परिषद् जैसे पात्रों की योजना इसी उद्देश्य से की गई है । तभी उसके ये तथा अन्य कल्पित पात्र भी ऐतिहासिक का-सा ही आभास दे पाने में पूर्ण समर्थ हो सके हैं ।

प्रसाद जी की पात्र योजना में वैविध्य भी उनकी नाट्यकला की एक प्रमुख विशेषता है । यह वैविध्य पुरुष-नारी दोनों प्रकार के पात्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है । एक ओर जीवन संग्राम में प्रवृत्त भिन्न प्रकार की परिस्थितियों से संघर्ष करते भिन्न मानसिकताओं वाले पात्र रहते हैं, तो दूसरी उन वैषम्यों, प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करनेवाले, उचित-अनुचित के निर्णायक पात्र भी रहते हैं । ऐतिहासिक पात्रों की प्रमुखता होने के कारण राजनीतिक दाँवपेंचों में माहिर तथा उनकी काट बतानेवाले पात्रों की भी वहाँ कमी नहीं रहती । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि यदि परिस्थितियों से जूझने वाले पात्र हैं, रामगुप्त और शकराज यदि राजनीति से लाभ उठाने में दत्तचित्त हैं, तो मन्दाकिनी, मिहिरदेव, पुरोहित, परिषद् जैसे राजनीति की काट करनेवाले पात्र भी हैं । इसी प्रकार कूट राजनीति के शिक्षक शिखरस्वामी जैसे पात्र भी हैं । उनके नारी पात्र भी अपने आप में विविधतापूर्ण होते हैं । उदाहरण के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के नारी पात्र ही लिए जा सकते हैं । एक ओर जहाँ राजनीति के षड्यंत्रों का शिकार होनेवाले ध्रुवस्वामिनी और कोमा जैसे नारी पात्र हैं, तो दूसरी ओर इन्हीं को नाटककार ने प्रेम की आग में झुलसकर त्याग-बलिदान के रास्ते पर चल (कोमा को) प्राणों की आहूति देते हुए भी दिखाया है । इन दोनों को जीवन के भंवर-जाल में बुरी तरह फंसी दुर्बल और उद्धार या मुक्ति की आकांक्षिणी नारियाँ भी कहा जा सकता है । मन्दाकिनी जैसे अपने अधिकार के प्रति पूर्ण सजग, समग्र नारी-जाति की मुक्ति के लिए सचेष्ट नारियाँ भी हैं । कोमा जैसी कोमल-कान्त और प्रेम-बलिदान की पावन सुवास से समूचे वातावरण को सुवासित कर जाने वाली नारियाँ प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के अतिरिक्त अन्य सभी नाटकों में भी खोजी-देखी जा सकती हैं । इस प्रकार पुरुष-नारी पात्रों की योजना और चारित्रिक विकास का वैविध्य प्रसाद की नाट्यकला का एक विशिष्ट आयाम और अंग है ।

कथा-कथानक और पात्रों के बाद नाट्यकला के आयाम और विकास की दृष्टि से सम्वाद-योजना का प्रश्न आता है । प्रसाद जी की सम्वाद योजना को भावुकता, भावना और काव्यमयता से संयमित होते हुए भी तर्कपूर्ण भी स्वीकार किया जाता है । इस दृष्टि से उनकी सम्वाद योजना वस्तुत: उनके व्यक्तित्व की, कवि-हृदय और जागरूक तर्कपूर्ण आधुनिक हृदय की गहरी छाप लिए हुए है । सम्वाद-योजना का यह वैशिष्ट्य इसी कारण प्रसाद के नाटकों का निजी स्वीकारा जाता है । आरम्भिक नाटकों में प्रसाद जी ने 'स्वगत' का भी सम्वादों में प्रयोग किया है, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने स्वगत-सम्वादों की योजना से अपने-आप को सर्वथा मुक्त कर लिया है ।

सूच्य-संवादों की योजना नाटकों की एक अपरिहार्य आवश्यकता है, अतः प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' समेत सभी नाटकों में सूच्य-सम्वादों की उचित योजना मिलती है । प्रसाद जी की सम्वाद योजना पर काव्यमयता के साथ-साथ अधिक लम्बे हो जाने का दोषारोपण भी किया जाता है । कहा जाता है कि प्रलम्बता के कारण सम्वाद प्रायः अरुचिकर, अस्वाभाविक और बोझिल हो जाया करते हैं । परन्तु हमारे विचार में 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की सम्वाद-योजना पर यह दोषारोपण सम्भव नहीं । यहाँ कुछ सम्वाद यदि कुछ प्रलम्बित भी हो गए हैं, तो वर्ण्य-विषय और स्थिति के अनुकूल ही हुए हैं । दूसरे उन्हें पढ़कर या सुनकर अरुचि, अस्वाभाविकता या बोझिलता का आभास नहीं होता ! हाँ, सामान्य पाठक-प्रेक्षक के लिए कहीं-कहीं साहित्यिकता, काव्यमयता का बोझ अवश्य दिखाई देने लगता और झेलना पड़ जाता है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की सम्वाद-योजना के बारे में डॉ० जगन्नाथ प्रसाद का मत विशेष उल्लेखनीय है । वह लिखते हैं - "ध्रुवस्वामिनी के सम्वादों में निरर्थक विस्तार भी नहीं होने पाया और वस्तु-निवेदन में भी सीधापन है । जहाँ कहीं तर्क-वितर्क के प्रसंग आ भी गए हैं, वहाँ व्यवहार-संगत वाद-विवाद भी चला है, उसमें विषय से च्युत सम्वाद का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता ।" वस्तुतः 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के रचनाकाल तक आते-आते प्रसाद जी आधुनिक यथार्थवादी नाट्यकला को सम्पूर्णतया और समग्रतः अपनाने की दिशा में सुनिश्चित कदम उठा चुके थे, इसी कारण इस नाटक के सम्वाद उपरोक्त दोषों से प्रायः बचे रहे हैं । वे आधुनिक नाट्यकला में सम्वादों के स्वरूप के पर्याप्त निकट प्रतीत होते हैं ।

प्रसाद जी के प्रत्येक पूर्ववर्ती नाटक के समान 'ध्रुवस्वामिनी' में भी गीतों की योजना हुई है । वस्तुतः गीत-योजना प्रसाद जी की नाट्यकला का एक अपरिहार्य अंग है । नाटकों में गीतों की योजना करते समय प्रसाद जी ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि वे गायक तथा जिसके लिए गाया जा रहा है उन पात्रों की मानसिकता के अनुकूल, उनका चारित्रिक उद्घाटन कर पाने में समर्थ तथा नाटकीय क्रिया-व्यापार एवं परिस्थितियों के भी अनुकूल हों । इस दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में गीतों को विचार-भाव-प्रेषण के अंगमूल सम्वादों का ही एक हिस्सा स्वीकार किया जा सकता है । उनकी सार्थकता भी इसी दृष्टि से रेखांकित की जा सकती है । अन्यथा तो आजकल नाटकों में गीतों को कथ्य-कथानक और पात्रों के चारित्रिक-विकास-गति में तो बाधक माना ही जाता है, पाठक-प्रेक्षक पर नाटक के अभिनय के प्रभाव की सृष्टि के राह में बाधक माना जाता है । पर प्रसाद के नाटकों के गीत इस प्रकार की किसी बाधा का वास्तव में अहसास नहीं होने देते, यह एक आश्चर्यजनक और महत्त्वपूर्ण तथ्य है । वे कथ्य-कथानक और चरित्र-चित्रण आदि के समग्र प्रभाव में वृद्धि करने वाले ही प्रमाणित होते हैं । विशुद्ध साहित्यिक सुरुचि-सम्पन्न पाठकों प्रेक्षकों की दृष्टि से इस बात को प्रसाद की नाट्यकला को एक अतिरिक्त विशेषता रेखांकित किया जा सकता है । परन्तु सामान्य पाठक प्रेक्षक की दृष्टि से नाटकों के गीतों की संस्कृत-गर्भित काव्यमय भाषा, दार्शनिकता-बोझिल अभिव्यक्ति आदि को समग्र प्रभाव की दृष्टि से बाधक, अतैव गीत-योजना को अनावश्यक ही कहा जा सकता है । आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से भी गीत-योजना को उचित नहीं कहा जा सकता ।

प्रसाद जी ने जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है, जहाँ उसे उनके नाट्यशिल्प की विशिष्ट शक्ति और उपलब्धि स्वीकार किया जाता है, आधुनिक रंगमंच पर अभिनय-अतैव, आधुनिक नाट्यकला के सन्दर्भों में उस पर आपत्ति भी की जाती है । उनके नाटकों की भाषा तत्सम शब्दों से भरपूर, कवित्वपूर्ण विशुद्ध साहित्यिक हिन्दी है । उसमें लक्षणा-व्यंजना का भी समावेश रहता ही है । भावुकता का पुट प्रायः बहुत अधिक रहा करता है । यों वर्ण्य-विषय के अनुरूप माधुर्य-लालित्य, प्रसाद और ओज जैसे शास्त्रीय गुणों का उचित अभिधान उसमें निश्चय ही रहता है, पर रंगमंच पर अभिनय और सामान्य पाठक-प्रेक्षक की दृष्टि से उसकी क्लिष्ट बोझिलता का आरोप निश्चय

ही निराधार नहीं कहा जा सकता । वह भाषा पूर्णतया विशुद्ध साहित्यिक ही कही जा सकती है और साहित्यिक सुरुचि-सम्पन्न, सुशिक्षित लोगों के लिए ही उपयोगी हो सकती है, आमजन के लिए नहीं । इस तथ्य को निश्चय ही प्रसाद जी की नाट्यकला की एक विशिष्ट सीमा-रेखा रेखांकित किया जा सकता है ।

प्रसाद जी की नाट्यशैली में आदर्श और यथार्थ का उचित समन्वय सर्वत्र देखा जा सकता है । उसमें सुख-दुख का एक सर्वथा जीवन के व्यवहारों के अनुरूप समन्वय मिलता है । इसी कारण डॉ० नगेन्द्र ने उनके नाटकों के बारे में उचित ही कहा है कि ''ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त हैं ।'' उनके नाटकों के कथ्य-कथानक की विकास-प्रक्रिया में तो सुख-दुख का मिश्रित भाव आद्यन्त बना ही रहता है 'प्रसादान्त' वे इस कारण होते हैं कि उनका उपसंहार भी सुख-दुख के मिश्रित भावों के प्रभाव की सृष्टि कर जानेवाला हुआ करता है । इस दृष्टि से उनकी नाट्यकला में भारतीय और पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय स्वीकारा जा सकता है । भारतीय नाट्य-परम्परा आरम्भ से ही अपनी आनन्दवादी दार्शनिक मान्यताओं के कारण सुखान्तमयी रही है, जबकि भौतिक और यथार्थ दृष्टि के कारण पाश्चात्य नाट्य-कला में प्राय: दुखान्तता या त्रासदी को प्रश्रय दिया गया है । किन्तु प्रसाद जी के नाटकों का अन्त बड़े ही आश्चर्यजनक रूप से कामद त्रासद दोनों प्रकार के समन्वित प्रभावों को अपने में अन्तर्निहित किए रहता है । 'ध्रुवस्वामिनी' की चरम परिणति या उपसंहार को ही हम उदाहरण के रूप में ले सकते हैं । अन्त में रामगुप्त का अन्त तो होता ही है, रामगुप्तीय समग्र रीति-नीतियों का भी अन्त हो जाता है और साथ में ध्रुवस्वामिनी को मुक्ति, प्रेमाधिकार एवं चन्द्रगुप्त को अपना उचित राज्याधिकार, साथ में प्रेमिका ध्रुवस्वामिनी की भी प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार 'अन्त' सुख-दुखात्मक बनकर रह जाता है । इसी को डॉ० नगेन्द्र ने 'प्रसादान्त' शैली-शिल्प कहा है, जो प्रत्येक नाटक के आलोक में नाटककार प्रसाद के नाट्य-शिल्प का नितान्त निजी वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाता है । इसी कारण उनके नाटक के शैली-शिल्प को आदर्श और यथार्थ का समन्वय भी कहा जाता है ।

प्रसाद के नाटकों का उद्देश्य भारतीय सभ्यता-संस्कृति के महान आदर्शों की पुन:प्रतिष्ठापना करना तो है ही, विश्व-मानवता में उदात्त मानवीय गुणों का विकासोदय कर, समूची मानवता के कल्याण-पथ को प्रशस्त करना भी है । मानवता का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कदम उसके लिए मंगल का विधान करनेवाला हो, सर्वत्र सुख-शान्ति का विधायक हो, यही उनके नाटकों का उद्देश्य और संदेश है । इसी कारण प्रसाद के नाटकों का प्रभाव व्यापक माना जाता है । रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से चाहे वह हिन्दी के नाटक को कुछ विशेष प्रदान न कर सके हों, परन्तु मानवीय उदात्त गुणों के विकास और मानव-कल्याण के लिए नाटक का माध्यम बहुत प्रभावशाली और उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, इस दृष्टि से तो उनका प्रभाव स्वीकार करना ही पड़ता है । परवर्ती नाटककारों ने भी प्रसाद की नाट्यकला से बहुत कुछ सीखा है । मोहन राकेश तक के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों को प्रसाद की भाषा-भावना आदि से प्रभावित कहा जा सकता है । इस प्रकार अन्त में हम डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के शब्दों में उचित ही कह सकते हैं कि ''भाव, भाषा, शैली, कला आदि सभी दृष्टियों से प्रसाद-युग हिन्दी-नाटक-साहित्य का स्वर्णयुग है'' और इसे स्वर्णयुग बनाने में मुख्यत: प्रसाद जी के अपने ही कलात्मक, उत्कृष्ट, सहज-उदात्त मानवीय भावनाओं से आकण्ठ आपूरित नाटकों का ही हाथ है ।

28.3 अभ्यास के प्रश्न

1. प्रसाद के नाट्य कला का उल्लेख कीजिए ।

ध्रुवस्वामिनी : महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक अंश

पाठ संरचना

29.0 उद्देश्य
29.1 परिचय
29.2 महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक अंश
29.3 अभ्यास के प्रश्न

29.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य ध्रुवस्वामिनी के महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक अंशों से पाठकों को परिचय कराना है ।

29.1 परिचय

ध्रुवस्वामिनी में बहुत सारे महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित अंश हैं । इन अंशों के माध्यम से नाटककार प्रसाद ने उसमें जीवन दर्शन और विचार अभिव्यक्त किए हैं । कुछ अंश तो विशेषार्थों से भरे पड़े हैं ।

29.2 महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक अंश

1. (सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर, और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न !

प्रसंग – यह संवाद नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रथम अंक के आरंभ से उद्धृत किया गया है । इसी से नाटक का आरंभ होता है । इससे कथ्य-कथानक का संकेत तो मिलता ही है, नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी और उसके साथ अन्यायपूर्ण कठोर व्यवहार करनेवाले रामगुप्त के चरित्र का भी आभास मिल जाता है । रामगुप्त के शिविर के एक कोने से अकेले ही प्रवेश कर सामने पहाड़ की ओर देख, उससे अपने जीवन की वास्तविकता की तुलना करते हुए ध्रुवस्वामिनी कह रही है :

व्याख्या – सामने यह जो सामने बादलों को भेद कर आकाश को छू रहा-सा प्रतीत होता हुआ ऊँची पहाड़ी का शिखर दिखाई दे रहा है, अपने तनाव में तने उस सीधे पहाड़ी शिखर को देखकर प्रतीत होता है कि जैसे प्रकृति की सारी कठोरता, ऊँचा उठने और बनने का अहंकार, इस की कठोरता के रूप में साकार हो उठा है । दूसरी ओर इस ऊँचे उठे पहाड़ी शिखर की निचली जड़ पर कुछ छोटी-छोटी कोमल वन-लताएँ उगकर, कुछ पौधे पैदा होकर

इधर-उधर बिखर-से रहे हैं । लगता है, जैसे वे सब इसकी उच्चता और कठोरता के सामने अपने-आप को नितान्त तुच्छ और हीन मानकर अपनी रक्षा और शरण के लिए ही इसके चरणों में लोट-पोट होने की विवशता ढो रहे हैं ।

भाव यह है कि ध्रुवस्वामिनी के साथ बलपूर्वक राक्षस विवाह करके उसे बन्दी बनाकर रख छोड़नेवाले रामगुप्त का व्यक्तित्व तो अपने अधिकार मद में तन कर इस पहाड़ी शिखर के समान ही कठोर है । दूसरी ओर ध्रुवस्वामिनी की अपनी स्थिति उस पहाड़ी शिखर के नीचे उगी लताओं-पौधों के समान ही अपनी सुन्दरता-कोमलता में भी तुच्छ और हीन होकर रह गया है । रक्षा और शरण की इच्छुक होकर भी वह बेचारी नितान्त उपेक्षित है ।

विशेष - छायावादी कवि भी होने के कारण नाटककार प्रसाद ने यहाँ भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का आश्रय लिया है ।

वातावरण-चित्रण की दृष्टि से भी यह सम्वाद महत्त्वपूर्ण है । बाह्य प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण का चित्रण तो इस संवाद से होता ही है, आन्तरिक परिस्थितियों की गंभीरता का भी पता चल जाता है ।

'सीधा तना हुआ, प्रभुत्व की साकार कठोरता वाला शिखर' रामगुप्त के चरित्र-स्वभाव का प्रतीक है । दूसरी ओर 'क्षुद्र कोमलताएँ' ध्रुवस्वामिनी और 'पौधा' चन्द्रगुप्त की निरीह दशा की प्रतीक हैं । इस प्रकार समूचा संवाद अपनी प्रतीकात्मकता के कारण विशेष अर्थ से पूर्ण है ।

भाषा काव्यमयी, अलंकरण-प्रधान और संस्कृत के तत्सम शब्दों से समन्वित व पूर्ण साहित्यिक है ।

2. हाँ, मैंने देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल अरुण ! आह ! राज-चक्र सबको पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायों और दुर्बलों को पिसने दो !

प्रसंग - यह प्रसंग नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रथम अंक में से लिया गया है । रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के मन की बात और चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम-भाव जानने के लिए नियुक्त, गूँगी का अभिनय करनेवाली खड्गधारिणी जब एक विशेष निश्चित स्थान (जहाँ रामगुप्त छिपा खड़ा है) पर ले जाकर ध्रुवस्वामिनी के सामने चन्द्रगुप्त की चर्चा चलाती है, उसकी राज्याधिकार त्यागने तथा ध्रुवस्वामिनी का भी त्याग करने के बाद भी होने वाली दुर्दशा का वर्णन कर, सहायता करने की बात कहती है, तब ध्रुवस्वामिनी कुमार चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व, दुर्दशा और साथ ही अपनी दुर्दशा होने की व्यथा प्रकट करते हुए कहती है :

व्याख्या - अपने पिता के साथ स्वर्गीय सम्राट समुद्रगुप्त की सन्धि होने पर, एक शर्त के रूप में कुमार चन्द्रगुप्त जब मुझे लेने गए थे, तब मैंने उन्हें देखा था । जिस प्रकार बादलों से विरहित शुभ्र, निर्मल पूर्व दिशा में उदय होता हुआ प्रातःकाल का सूर्य अपनी तेजस्विता और सौंदर्य से सभी को आकर्षित कर लेता है, अपनी किरणों से सारी सृष्टि और प्रकृति को सुन्दर उज्ज्वल बना देता है, उस समय चन्द्रगुप्त का सुन्दर-आकर्षक व्यक्तित्व मुझे उसी प्रकार का -प्रातःकाल उगते हुए सूर्य का सा ही प्रतीत हुआ था । सूर्य की उज्ज्वल किरणों के प्रभाव के समान ही उसने मेरे तन-मन के कमल को विकसित कर दिया था । परन्तु आह ! अर्थात् अब उस सब का स्मरण दुखद आह को ही जगाने वाला है । राजनीति के षड्यंत्रपूर्ण चक्र ने घूम कर आज वह हम सब से छीन लिया है । राजनीति का चक्र हमेशा दुर्बलों-साधनहीनों को हानि पहुँचा, उनका सबकुछ छीन पीड़ित ही किया करता है । राजनीतिक दृष्टि से क्योंकि अब कुमार चन्द्रगुप्त अपना राज्याधिकार खो चुके हैं, मेरा भी कोई अधिकार नहीं रहा, अतः अब हम दोनों को इसी प्रकार इच्छा-आकांक्षाएँ मार कर ही जीना है । अतः उस सब की चर्चा न कर अब जो होता है, होने दो ।

भाव यह है कि राजनीति, उस पर षड्यंत्रों से पूर्ण कूटनीति हमेशा दिलों को तोड़ा ही करती है, जोड़ती नहीं। दुर्बल जनों को राजनीतिक अधिकार पाकर ही जीने का अधिकार मिल सकता है ।

विशेष – नाटककार ने राजनीति को मानव-जीवन के लिए पूर्णतया घातक और अनैतिक बताया है ।

'निरभ्र प्राची का बाल अरुण' पद में लुप्तोपमा अलंकार है । इस उपमा का उपयोग नाटककार ने कुमार चन्द्रगुप्त के आकर्षक व्यक्तित्व और प्रभाव को चित्रित करने के लिए किया है । इस प्रयोग को हम प्रतीकात्मक प्रयोग भी कह सकते हैं ।

भाषा काव्यमयी, लाक्षणिक और संस्कृत-निष्ठ है ।

3. देवि, वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गई है, उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जाएँगी कि वह काई जाति की है। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई जो विछलन बन कर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलम्ब बन गई है ।

प्रसंग – रामगुप्त द्वारा नियुक्त, गूंगी का अभिनय करनेवाली खड्गधारिणी, नाटक में ध्रुवस्वामिनी के प्रति यह संवाद कह रही है । रामगुप्त की योजना के अनुरूप ही पहले वह चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के मन का भाव जानती है, फिर चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर उपस्थित विषम परिस्थितियों से छुटकारा पाने का संकेत पहाड़ पर चढ़ रही बेल की ओर संकेत करते हुए देती है । वह कहती है :

व्याख्या – देवि-अर्थात् ध्रुवस्वामिनी ! आप सामने देखें । वहाँ अपनी कोमल और छोटी पत्तियाँ होने पर आन्तरिक ऊर्जा के प्रभाव से ऊपर उठकर पहाड़ का सहारा लेकर ऊपर शिखर तक चढ़ गई एक बेल दिखाई दे रही है । ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पानी के ऊपर-भीतर जमने वाली काई से उत्पन्न होने वाली वह एक नितान्त तुच्छ बेल ही है । वह उस काई जाति की बेल है कि जिस पर पाँव पड़ जाने से आदमी फिसल कर गिर जाता है । तुच्छ रहते हुए भी अपने प्राणों की शक्ति का विस्तार कर उसने इतनी सामर्थ्य पा ली है कि अब कठोर तथा ऊँचे पहाड़ पर भी चढ़ सकी है । सांकेतिक या लाक्षणिक अर्थ यह है कि जिस प्रकार पहाड़ का आश्रय पाकर यह तुच्छ बेल अपनी आप्तरिक ऊर्जा से ऊपर उठ गई है, उसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त भी पारस्परिक सहयोग करके रामगुप्त के निकृष्ट षड्यंत्रों से छुटकारा पाकर अपनी उन्नति और विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं ।

भाव यह है कि निर्बल और साधनहीन व्यक्ति भी अपनी आन्तरिक शक्तियाँ जगाकर, परस्पर सहयोग करके परिस्थितियों की विषमता पर विजय पा सकते हैं ।

विशेष – नाटककार प्रसाद ने छायावादी कवि भी होने के नाते छायावादी ढंग से ही भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति-चित्रण को अपना आधार बनाया है । यह आधार अर्न्तबाह्य वातावरण के चित्रण में भी निश्चित सहायक बना है ।

काई की जाति की वल्लरी दुर्बल नारी ध्रुवस्वामिनी का प्रतीक है । पहाड़ी की समीपता चन्द्रगुप्त के प्रेम की समीपता की परिचायक है । बेल का ऊपर चढ़ना प्राण-क्षमता या ऊर्जा के सहयोग और विस्तार की ओर इंगित करने वाला है ।

समूचा कथन लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक है । भाषा साहित्यिक होते हुए भी अलंकृत, साहित्यिक है ।

4. (आकाश की ओर देखकर) वह बहुत दूर की बात है । आह, कितनी कठोरता है ! मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है ? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो उठता है । किन्तु उन्हीं का भाई ? आश्चर्य !

प्रसंग – रामगुप्त की गुप्त दूतिका, खड्गधारिणी जब काई की जाति की बेल की बात कर सांकेतिक रूप से ध्रुवस्वामिनी को यह सुझाव देती है कि वह कुमार चन्द्रगुप्त के सहारे उस स्थिति से मुक्ति पा सकती है, तब उसकी बात पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर कुमार चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के व्यक्तित्वों की तुलना करते हुए ध्रुवस्वामिनी कहती है :

व्याख्या – तुमने उस बेल की ओर संकेत कर के जिस शक्ति पाने और अपने खोए अधिकारों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है, वैसा कर पाना आज की विषम परिस्थितियों में बहुत दूर की बात है । अर्थात दूर की कल्पना और कठिन कार्य है । विषम राजनीतिक परिस्थितियों और कठिन पाबन्दियों में ऐसा सोच तथा कर पाना कतई सरल कार्य नहीं है । इस प्रकार अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करने के बाद वल्लरी (बेल) की कोमलता और पहाड़ की कठोरता से प्रेरणा लेकर ध्रुवस्वामिनी अपनी ही मानसिक भावनाओं में चढ़ती-उतरती चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के व्यक्तित्वों की तुलना करते हुए फिर कहती है – वह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि जो मनुष्य जन्म और स्वभाव से बुरा नहीं बल्कि देवता के समान होता है, अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर उसके मन-स्वभाव-कर्म का देवता तो हट या मर जाता है और उसके स्थान पर उसके हृदय में आ बैठता है राक्षस । अर्थात स्वार्थी मनुष्य का स्वभाव, आचरण और व्यवहार राक्षसों जैसा हो जाया करता है । अब इन दो भाइयों को ही देख लो ; एक है कुमार चन्द्रगुप्त जिनका व्यक्तित्व और स्वभाव देव तुल्य होने के कारण सभी को आकर्षित करके अपने से प्रेम करने की प्रेरणा देता है । दूसरी ओर उन्हीं का भाई रामगुप्त है जिसका व्यक्तित्व, आचरण और व्यवहार सभी कुछ राक्षसों वाला होने के कारण प्रेम के स्थान पर भय और घृणा को ही जन्म देता है । मानव के गुण, कर्म और स्वभाव में यह कितना आश्चर्यजनक अन्तर देखने को मिलता है ।

भाव यह है कि अच्छे गुण, कर्म और स्वभाव व्यक्ति को देवतुल्य और ग्राह्य बना देते हैं, जबकि इसके विपरीत व्यक्ति राक्षसवत ही अग्राह्य हो जाया करता है ।

विशेष – पहला वाक्य ध्रुवस्वामिनी की विवशता और परिस्थितियों की विषमता को प्रगट करने वाला है । इसके बाद नाटककार ने तुलनात्मक दृष्टि से चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के व्यक्तित्वों का अन्तर स्पष्ट किया है । यह कथन ध्रुवस्वामिनी के मन में विद्यमान चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम-भाव को भी स्पष्ट रूपायित करने वाला है । भाषा सहज, सरल और साहित्यिक है ।

5. आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन में टीस है (कुछ सोचकर) जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा ।

प्रसंग – अपनी गुप्त दूतिका खड्गधारिणी के अभिनय से ध्रुवस्वामिनी के मन में बसे चन्द्रगुप्त के प्रेमभाव को जान रामगुप्त का मन-मस्तिष्क उद्वेलित हो उठता है । उसी समय प्रतिहारी आकर उसे शकराज का दूत आने का

समाचार भी देती है । इस दुहरी उद्विग्नता में ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व में व्याप्त द्वन्द्व की कल्पना करते हुए रामगुप्त कह रहा है :

व्याख्या – शकराज का सन्देश लेकर दूत भी आया है । सो तो ठीक है, परन्तु आह ध्रुवस्वामिनी ! वह जो मेरी राह के सबसे बड़े बाधक कुमार चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है । उसके मन में मेरी पत्नी होने पर भी उसके प्रेम में सफलता न मिलने और उसकी पत्नी न बन पाने के कारण एक पीड़ा है । एक कसक हमेशा उसमे मन-मस्तिष्क में चन्द्रगुप्त के प्रेम का भाव मचलता रहता है । दूसरी ओर मेरी पत्नी बन जाने की टीस भी उसे हर क्षण टीसती रहती होगी । ऐसी स्थिति में ध्रुवस्वामिनी के समान जिस स्त्री को विवश भाव से रहना तो मेरे जैसे किसी पुरुष के अधीन पड़ता होगा, पर प्रेम ध्रुवस्वामिनी के समान चन्द्रगुप्त जैसे किसी दूसरे पुरुष से करती होगी, उसके मन में हमेशा किसी व्यापक, विचित्र रस की तरंगे लहराती होंगी । अर्थात् उसकी सोच का क्षेत्र निश्चय ही इस ढंग से रहता होगा । कि कैसे वह मेरे जैसे अयाचित व्यक्ति से छुटकारा पाकर अपने प्रेमी के पास जा सके ऐसी नारी मेरे जैसे व्यक्ति के लिए निश्चय ही कभी भी किसी खतरे का कारण बन सकती है । अत: इसका उपाय कर लेना आवश्यक है ।

भाव यह है कि दो नावों में सवार व्यक्ति और नावें भी कभी भी खतरे या डूबने का कारण बन सकती हैं । भंवरों में फँसी नाव स्वयं डूब कर अयाचित रूप से सवार व्यक्तियों को भी डुबा सकती है । अत: पूर्ण सावधानी आवश्यक है ।

विशेष – स्वार्थ-पीड़ित रामगुप्त एकदम नीरस व्यक्ति नहीं है, इसके स्पष्टीकरण के साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपनी सुरक्षा के लिए वह कहाँ तक चिन्तित एवं सावधान है ।

6. मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए ।

प्रसंग – शकराज से सन्धि शर्तों वाला पत्र पढ़कर पाकर पढ़ने के बाद, जब रामगुप्त यह कहता है कि यह एकदम मेरे प्रतिकूल भी नहीं है और मुझे पहले से ही इस प्रकार की संभावना थी, तब आमात्य शिखरस्वामी रामगुप्त से कह रहा है :

व्याख्या – यदि आप पत्र में लिखी गई शकराज की सन्धि-शर्तों को अपनी योजनाओं और नीतियों में एकदम प्रतिकूल नहीं मानते, तब तो आपने इस पत्र का उत्तर और उपाय भी अवश्य अवश्य सोच लिया होगा । इस पत्र और अपने राजनीतिक-पारिवारिक वातावरण को देखकर ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे कि बादलों के घटाटोप से घिरा आकाश । अर्थात् विपत्तियों के बादलों ने आपके वर्तमान और भविष्य को घेर कर उसी प्रकार एक बार तो अन्धकारमय बना दिया है, जैसे बादल घिर कर वातवरण को अन्धेरा-धुंधला बना देते हैं और तब रास्ता भी ठीक से सूझ पाना कठिन हो जाया करता है । पर जैसे घनघोर बादलों की घटाओं से अचानक बिजली चमक कर रास्ता सुझा जाती है, उसी प्रकार इस विपत्ति के बादलों में घिरे आपके मन-मस्तिष्क में सहसा किसी उपाय-रूपी बिजली ने चमक कर आपको प्रतिकार और छुटकारे का मार्ग सुझा दिया होगा ।

भाव यह है कि बुद्धि की प्रत्युत्पन्न मत्ता हो व्यक्ति के घोर संकट में सहायक बनकर उद्धार मार्ग प्रशस्त करती है ।

विशेष – नाटककार ने भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का आश्रय लिया है ।

वर्णन अलंकारिक और लाक्षणिक है । उपमा, काव्यलिंग और तुल्ययोगिता जैसे अलंकारों का प्रयोग स्पष्ट है ।

भाषा काव्यमयी, अलंकृत और विशुद्ध साहित्यिक ।

7. भयानक समस्या है । मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव को सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है । सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छात्र-छन्द की धूल उड़ती है ।

प्रसंग - स्वार्थी, कायर और गौरव-भ्रष्ट रामगुप्त शकराज की सन्धि-शर्तें स्वीकार कर ध्रुवस्वामिनी को उपहार रूप में उसे देने की योजना बना लेता है । वह आमात्य शिखरस्वामी के साथ निश्चय करता है कि इस प्रकार करके मुझे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों खतरों से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाएगा । उनकी इस घृणित योजना की भनक गुप्तवंश की कन्या, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की बहन मन्दाकिनी के कानों में भी पड़ जाती है । इस गौरवहीन अमर्यादित कार्य से खिन्न होकर ही, चारों ओर की पाशविक भयानकता का अनुमान कर वह अपने-आप से ही कह रही है :

व्याख्या - रामगुप्त और शकराज की स्वार्थी वृत्ति, कायर स्वभाव और उस पर शकराज द्वारा दोनों ओर से घेर कर प्रस्तुत की गई सन्धि की शर्तों ने ध्रुवस्वामिनी और गुप्तवंश के गौरव की रक्षा की भयानक समस्या उत्पन्न कर दी है । वातावरण और परिस्थितियाँ एकदम विपरीत, भयानक और अराजक हो उठी है । इस पर भी यदि साम्राज्य का अधिकार चन्द्रगुप्त जैसे वीर, बुद्धिमान, साहसी और कुल-गौरव से मण्डित व्यक्ति के हाथ में होता तो कोई बात नहीं । पर यहाँ तो शासन का अधिकारी रामगुप्त जैसा नीच, स्वार्थी और मूर्ख व्यक्ति है । उस पर उसके साथ शिखरस्वामी जैसा नीच, स्वार्थी और मूर्ख आमात्य मिल गया है । इन दोनों स्वार्थी मूर्खों ने मिलकर अब तो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए महान गुप्तवंश के गौरव और मर्यादा को भी विनष्ट कर डालने का निश्चय कर डाला है । ध्रुवस्वामिनी को गुप्तकुल की समस्त मर्यादाओं को विपरीत उपहार की वस्तु बना देना, वह भी उस शकराज के लिए कि जिसके पूर्वजों को कई बार गुप्त सम्राटों ने खदेड़ा, सर्वनाश की राह हो तो है । पर किया भी क्या जा सकता है । जब किसी देश, वंश या व्यक्ति के व्यक्तित्व और चरित्र में वीरता नहीं रहती, कायरता और स्वार्थपरता आ जाती है, तब छल-कपट और षड्यंत्रों की धूल उड़ कर समूची शोभा-मर्यादा को नष्ट कर दिया करती है । सो रामगुप्त में वीरता का तो अभाव है, अतः अब छल-कपट के सहारे अपने निहित स्वार्थ सिद्ध कर वंश-गौरव, मर्यादा मानवीय स्वाभिमान को मिट्टी में मिला देना चाहता है ।

भाव यह है कि कायर और चरित्रहीन व्यक्ति राजनीति के नाम पर छल-कपट का सहारा लेकर ही अपने स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं ।

विशेष - मन्दाकिनी का यह सम्वाद रामगुप्त और आमात्य शिखरस्वामी के कायर तथा षड्यंत्रकारी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला है ।

इससे मन्दाकिनी के चरित्र की निर्भीकता, मर्यादा-प्रियता, गौरव-रक्षा की चिन्ता और ध्रुवस्वामिनी के प्रति सम्मान तथा अनुराग का भाव भी प्रगट हो जाता है ।

'धूल उड़ना' और 'पाँव दबा कर भागना' जैसे मुहावरों का अपने ढंग से बड़ा ही सार्थक प्रयोग किया गया है ।

भाषा सानुप्रासिक, प्रवाहमयी, सरल साहित्यिक है । अलंकरण की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है ।

8. कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते । (पृष्ठ 28)

प्रसंग – आमात्य शिखर स्वामी की कूटनीति और योजनाबद्ध प्रक्रिया प्रेरित उसी के साथ आकर रामगुप्त जब शकराज की सन्धि-शर्तों को पूरा करने के लिए उपहार बन कर ध्रुवस्वामिनी को शकदुर्ग में जाने की बात कहता है, आमात्य शिखर स्वामी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा राष्ट्र-रक्षा और राज-रक्षा के लिए उसके जाने की बात पर राजनीतिक स्वीकृति और अनुमोदन की मुहर अंकित कर देता है; तब अपने स्वत्वाधिकारों की रक्षा के प्रति सजग और तत्पर हो, विद्रोह तथा आक्रोश भरे स्वर में ध्रुवस्वामिनी उन दोनों से कहती है :

व्याख्या – तुम्हारी कूटपूर्ण राजनीति चाहे कुछ भी क्यों न कहती हो, पर तुम्हारी नीयत और उद्देश्य को मैं अच्छी तरह समझ चुकी हूँ । अब यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है और मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहती हूँ कि आज ही नहीं, अनन्त काल से तुम पुरुषों का नारी के प्रति व्यवहार पूर्णतया असम्मानपूर्ण, घृणित एवं हीनता का द्योतक रहा है । तुम लोग स्त्री को अपने समान मनुष्य समझकर उसके साथ कभी भी मानवोचित व्यवहार नहीं करते । बल्कि जिस प्रकार कोई पशुपालक पशुओं के साथ मनमाना व्यवहार करता है, जब चाहे उसे बलि का बकरा बना देता है, उसी प्रकार तुम समर्थ पुरुषों ने भी नारियों को पशु जैसी चल-सम्पत्ति मानकर ही व्यवहार करने की एक आदत-सी बना ली है । पर यह बात अच्छी तरह कान खोल कर सुन लो कि मेरे साथ पशुओं जैसा व्यवहार नहीं चल सकेगा । तुम लोगों की स्वार्थ-पूर्ति के लिए मैं अपने-आप को बलि का बकरा नहीं बनने दूँगी । अपने-आपको राजनीतिज्ञ, राजा, आमात्य और उच्च कुल का समझनेवाले तुम पुरुष लोग यदि अपने वंश की लाज और मर्यादा, मान-सम्मान की प्रतीक मुझ नारी की रक्षा नहीं कर सकते, तो न सही । मैं स्वयं अपनी रक्षा जैसे भी होगा, कर लूँगी । पर याद रखे, अब मैं तुम्हारी स्वार्थी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बिक्री का सौदा नहीं बनी रह सकती । तुम्हें कोई अधिकार नहीं कि किसी के साथ अपने स्वार्थ के लिए मेरे व्यक्तित्व और अस्तित्व का सौदा करो ! अब यह असह्य है ।

भाव यह है कि पुरुष-समाज ने हमेशा ही नारी के साथ गुलामों, अधीनों और सचल सम्पत्ति जैसा व्यवहार किया है । पर अब जागरूक नारी ने पुरुष समाज की नीयत और अपने स्वत्वाधिकारों का मूल्य और महत्त्व पहचान लिया है । अतः अब उसके साथ शोषित, पीड़ित, अपमानित करनेवाला परम्परागत व्यवहार नहीं चल सकता ।

विशेष – इस सम्वाद द्वारा नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व एवं चरित्र में आधुनिक जागरूक नारी का चेतनागत विद्रोह और आक्रोश संचरित कर दिया है ।

इससे ध्रुवस्वामिनी के चरित्र की निडरता, स्वाभिमान और ओजस्विता भी व्यक्त हो जाती है ।

यह सम्वाद नाटक के मूल कथ्य या उद्देश्य, सन्देश और समस्या को भी उजागर करने वाला है ।

9. मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूँगी ।

प्रसंग – प्रस्तुत संदर्भ जयशंकर प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रथम अंक में से उद्धृत किया गया है ।

नाटक के कथानक के अनुसार रामगुप्त शकराज की सन्धि-शर्तें मान ध्रुवस्वामिनी को उस दुर्ग में भेजने को तैयार हो जाता है । पता चलने पर ध्रुवस्वामिनी अपने पत्नीत्व-भाव, नारी और कुल-गौरव का वास्ता देकर रामगुप्त से अनुनय करती है कि वह उसकी रक्षा करे । परन्तु दुष्ट स्वभाव रामगुप्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह स्पष्ट कहता है कि ''तुम उपहार की वस्तु हो । आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ । इसमें तुम्हें क्या आपत्ति हो ?'' तब क्रोध ावेश में ध्रुवस्वामिनी कह रही है :

व्याख्या - मैं तुम्हे जानती हूँ कि तुम बेशर्म, शराबी और नपुंसक हो । तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते । लगता है, यहाँ मेरी रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है । परन्तु परवाह नहीं । तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते हो न ही । मैं खुद अपनी रक्षा कर लूँगी । पर बेशर्म और धूर्त राजा, इतनी बात याद रखो कि मैं कोई मणियों से बना हुआ निर्जीव और ठण्डा आभूषण नहीं कि उठाया और जिसे चाहे दे डाला । मेरा शरीर मानवीय हाड़-मांस से ही बना है और उसमें जीवन तथा स्वाभिमान को सजीव रखने वाला लाल खून भी प्रवाहित है । शक्ति, जीवन और गौरव की प्रतीक ऊष्मा या ऊर्जा भी मेरे रक्त-मांस के बने शरीर में विद्यमान है । आत्मसम्मान का प्रकाश मेरे हृदय को हमेशा प्रकाशित करता रहता है अर्थात् मैं तुम्हारी तरह कायर, निर्लज्ज और नपुंसक न होकर जीवन्त जीवन की, मानवीयता की गरिमा से पूर्ण हूँ । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो न सही । मैं स्वयं अपनी रक्षा कर लूँगी ।

भाव यह है कि व्यक्ति का आत्मगौरव का भाव ही सर्वोच्च हुआ करता है । उसकी रक्षा हर प्रकार से होनी चाहिए । आत्गौरव-सम्पन्न व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है । स्वार्थी और हीनताओं का पुतला नहीं ।

विशेष - नाटककार ने तुलनात्मक दृष्टि से रामगुप्त की हीनता और ध्रुवस्वामिनी के आत्मगौरव के भाव, स्पष्टवादिता और स्वत्वरक्षा के लिए सजग आक्रोश का चित्रण किया है ।

नारी-जागरण की चेतना भी यहाँ नाटक के कथ्य और समस्या के अनुरूप ही प्रदर्शित की गई है । नाटककार ने यह भी स्पष्ट किया है कि अपने गौरव-सम्मान की रक्षा के लिए नारी को स्वयं आगे आना होगा ।

सम्भाषण की भाषा सानुप्रासिक, अलंकृत, प्रवाहमयी, साहित्यिक और ओजगुण से सम्पन्न है ।

10. विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है । मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी है ।.....विनय के आवरण में मेरी कायरता कब तक अपने को छिपा सकेगी ?

प्रसंग - यह सम्वाद 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के तृतीय अंक में से लिया गया है । शकराज की हत्या और शकदुर्ग पर अधिकार के बाद भी कुमार चन्द्रगुप्त सहनशील, अपने अधिकारों के प्रति मौन ही बना रहता है । तब बहन मन्दाकिनी उसे प्रेरित और उत्तेजित करती है कि मौन तोड़कर उसे अपने स्वत्वाधिकारी की रक्षा करने के लिए आगे आना ही चाहिए । मन्दाकिनी के चले जाने के बाद अपने बारे में सोचते हुए अपने-आप से ही चन्द्रगुप्त इन पंक्तियों में कह रहा है -

व्याख्या - ईश्वर, राज्य और गृह-परिवार का विधान स्याही की एक बूँद से ही लिखा जाकर कई बार किसी व्यक्ति के उज्ज्वल भाग्य और भविष्य को भी काला अर्थात् अन्धकार पूर्ण कर दिया करता है । विधाता ने पता नहीं मेरा भाग्य किस स्याही से लिखा कि सब प्रकार के अधिकारों का घोषित अधिकारी होकर भी मैं आज उनसे वंचित हूँ । गृह और वंश के विधान को स्वयं ही स्वीकार करके भी मैंने अपने हाथों से अपना भाग्य बिगाड़ लिया है । यह

स्थिति कितनी विषम और दुखदायी है । मेरे ही कारण आज मेरा राज्याधिकार तो गया ही, मुझे आज यह स्वीकार करने में भी संकोच नहीं है कि मेरी भीरूता और विधान की गुलामी जन्य मौन के कारण ही आज ध्रुवस्वामिनी यह है कि आज भी खुलकर यह कहने में मैं असमर्थता और संकोच का अनुभव कर रहा हूँ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी प्रेमिका है, उस पर मेरा ही अधिकार है । पर अब मैं और अधिक इस स्थिति को सहन नहीं कर सकता । कुल गौरव और थाथी नम्रता की आड़ में अपनी कायरता को अब मैं और अधिक छिपाए नहीं रख सकता । अब तो मुझे खुलकर सामने आना ही पड़ेगा ।

विशेष – नाटककार ने इस प्रसंग में सहज मनोविज्ञान के आधार पर कुमार चन्द्रगुप्त की मन:स्थिति का मनोवैज्ञानिक विवेचन–विश्लेषण किया है ।

नैतिक मूल्यों के संबंध में नाटककार के दार्शनिक विचार भी इस सम्वाद के माध्यम से स्पष्ट हो जाते हैं ।

ध्रुवस्वामिनी : गीतों की व्याख्या

1. यह कसक अरे आँसू सह जा ।
   बन कर विनम्र अभिमान मुझे
   मेरा अस्तित्व बता, रह जा ।
   बन प्रेम छलक कोने–कोने
   अपनी नीरव गाथा कह जा ।
   करूणा बन दुखिया वसुधा पर
   शीतलता फैलाता, बह जा !

प्रसंग –'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के प्रथम अंक में यह गीत मन्दाकिनी द्वारा गाया गया है । रामगुप्त के व्यवहार से पीड़ित मन्दाकिनी पहले तो चुप रह वहाँ से चले जाने की बात सोचती है, परन्तु बाद में वह वहीं रह कर न्याय के दुर्बल पक्ष का समर्थन करने की घोषणा करती है । इस घोषणा के बाद ही सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिए सुख–कल्याण की कामना करती हुई मन्दाकिनी गाने लगती है :

व्याख्या – हे मेरे आँसुओं ! अब सब प्रकार की दुर्बलताओं का त्याग कर, रामगुप्त द्वारा किए गए अत्याचारों को सहने के लिए प्रस्तुत हो जाओ । विधाता ने मुझे न्याय के दुर्बल पक्ष का समर्थन करने की जो प्रेरणा दी है, उस स्थिति में अब आँसू बहाने से काम चलने वाला नहीं है, बल्कि कर्त्तव्यपथ पर दृढ़ता से बढ़ना ही उचित है । अत: हे मेरे आँसुओं ! मुझे मेरी दुर्बलता का अहसास न करा, मुझमें विनम्र स्वाभिमान का भाव जगाओ । ताकि अपने अस्तित्व, नारी होने पर भी अपनी शक्ति को पहचान मैं दुनिया को सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति दिला सकूँ । इस प्रकार की करूणा और पर–दुख कातरता का रूप बन कर ही मेरे आँसू अब बहने चाहिए । हे मेरे आँसुओं ! अब तुम सहज मानवीय करूणा और प्रेम का रूप धारण कर दुखी मानवता के घावों पर बरस कर, उच्च मानवता के भाव की कहानी विश्व के कोने–कोने में पहुँचा दो । इस प्रकार नारी–सुलभ सहज करूणा का भाव बनकर सारी दुनिया के न्याय–वंचित दुखी लोगों की राह में बरस, अपने कठोर, न्यायोचित कर्त्तव्य–पालन द्वारा सभी को सुख–शान्ति की शीतलता प्रदान करो ।

भाव यह है कि सहज मानवीय करूणा का भाव ही जागृत होकर दुखी-पीड़ित मानवता के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा कर सकता है । आज उसी प्रकार के भावों को जगाने की आवश्यकता है ।

विशेष - गीत की मूल भावना बुद्ध-मत के करूणा भाव को उजागर करने वाली है ।

मन्दाकिनी के चरित्र का महज मानवीय और नारी स्वभाव का औदात्य भी गीत से प्रगट होता है ।

गीत कवि प्रसाद की छायावादी शैली-शिल्प और भाषा-सौष्ठव का अच्छा उदाहरण है । आँसुओं का मानवीकरण किया गया है । सम्बोधन का भाव-रूप भी स्पष्ट है । समग्रतः गेयता का लालित्य भी तात्विक स्तर पर इस गीत में देखा जा सकता है ।

2. पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चलें
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरि-पथ का अथक, पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
पृथ्वी की आँखों में बनकर, छाया का पुतला बढ़ता हो
सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिमा को गढ़ता हो
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
खिलते हों क्षत के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिस्रा के तारे
पद-पद पर ताण्डव नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय-चकित निशा
हो स्वेद धार बहती कपिशा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
विचलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर शृंगार उतरता हो
क्रन्दन कम्पन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नील कंठ की छाप लिए
विश्राम शान्ति को शाप दिए, ऊपर ऊँचे सब झेल चले ।

प्रसंग - यह गीत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के दूसरे अंक से लिया गया है । इस गीत की गायिका मन्दाकिनी है । जब कुमार चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेश में और ध्रुवस्वामिनी सहेली के वेश में शकदुर्ग की ओर प्रस्थान कर रहे होते हैं, तब उनके साथ सामान्त स्त्रियों का वेश बनाकर जाने वाले सामान्त कुमारों के आगे लग कर यह गीत गाते हुए मन्दाकिनी उन्हें विदाई देती है ।

व्याख्या - बहुत संभव है कि कर्तव्य पालन करने जाते हुए रास्ता रोकने के लिए रास्तों में कष्टों के बादल पथ-अवरोध के लिए आ खड़े हों, उस पर अवरोधों-निराशाओं की बिजलियाँ भी कौंध-कड़क कर राह रोकने

लगें–तब भी तुम्हें कर्त्तव्य–पथ पर निरन्तर आगे ही बढ़ते जाना है । यह भी संभव है कि अनेक प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्तियों के किनारे तुम्हारे जीवन की धारा को ठीक न बहने दें, सैंकड़ों कष्ट–विरोध रूपी झरने आ–आ कर बाधाएँ पहुँचाएँ, अनेक प्रकार की बेमेल या असम्भावित घटनाएँ भी घट जाएँ, तब भी तुम लोगों को रूकना नहीं है ।

तुम्हारी राह में वायु तूफानी रूप धारण करके सन्नाटा उत्पन्न कर सकती है । इतना भयानक तूफान आ सकता है कि वृक्ष उखड़ कर भूमि पर गिर पड़ें । परन्तु तब भी तुम्हें उस यात्री के समान सभी कुछ झेलते हुए निरन्त आगे ही बढ़ना है कि जिसके सामने पहाड़ी शिखर तक पहुँचने का महान लक्ष्य हुआ करता है ।

हे वीरों ! तुम छाया बन कर धरती पर अपनी छाप छोड़ते लक्ष्यों की ओर बढ़ते जाओ । निराशा और विपत्तियों के गहन अंधकार में भी वीरता–आशा का प्रकाश बन कर अपने कर्त्तव्य परायण व्यक्तित्व की छाप छोड़ते जाओ । रास्ते में आने वाले कष्टों की पीड़ाओं को धूल के समान उड़ाते हुए, बाधाओं को साहसिक चोटों से ठुकराते हुए, कष्टों में भी सब झेलते हुए मुस्करा कर निरन्तर आगे ही बढ़ते जाओ ।

गहरी अन्धेरी रात के चमकने वाले तारों की चमक के समान चाहे तुम्हारे शरीरों पर घाव ही क्यों न चमकने लगें, तुम्हारे कदमों पर विपत्तियों का चाहे भयानक ताण्डव नृत्य ही क्यों न होता रहे, चाहे जीवन के सारे मधुर संगीत, सुखों के स्वर विलुप्त हो जावें, सारी दिशाएँ विनाश के भयानक स्वरों से भरकर गूँजने भी क्यों न लगें और भय से चकित काँपती भयानक अन्धेरी रातें भी क्यों न आ जाएँ, इस परिश्रम से चाहे तुम्हारे तन से मूसलाधार पसीना क्यों न बहने लगे, तब भी सारी विपत्तियों को झेलते हुए तुम्हें आगे ही बढ़ते जाना है । अपनी सफलता के लिए सबकुछ सहना है ।

चाहे पर्वत भी वातावरण की भयानकता के डर कर अपने जड़–मूल से उखड़ जाएँ, प्रकृति का सारा सौन्दर्य कठिनाइयों की मार के कारण नष्ट क्यों न हो जाए, तब भी तुमने चीख–पुकार मचा कर सहायता के लिए किसी को पुकारना नहीं, बल्कि अपने शक्ति–साहस पर ही निर्भर रहता है । नीलकण्ठ भगवान शिव की तरह दुखों–कष्टों के जहर को स्वयं पीकर, विश्राम और सुख–शान्ति की बातें भूलकर, तब तक अपने लक्ष्यों की ओर निरन्तर बढ़ते चलो कि जब तक सफलता न मिल जाए ।

भाव यह है कि भयानक–से–भयानक विपत्तियों में भी न घबराकर निरन्तर कर्तव्य–पथ और लक्ष्यों की ओर बढ़ने वाले साहसी वीरों का ही सफलता वरण किया करती है ।

विशेष – प्रसाद जी द्वारा रचा गया यह एक सुन्दर अभियान–गीत है । गीत का प्रत्येक पद साहस–वीरता को जगाने की प्रेरणा देकर लक्ष्यों तक पहुँचाने वाला है ।

छायावादी काव्य–शैली का सहारा लेकर ही नाटककार ने इस गीत में विरोधी स्थितियों में भी सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है । भाषा में अलंकरण की प्रवृत्ति तो है ही, ओजगुण की प्रधानता भी है ।

3. यौवन ! तेरी चंचल छाया ।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ तो रस तू है लाया ।
मेरे प्याले में मद बन कर कब तू छली समाया ।
जीवन–वंशी के छिद्रों में स्वर बन कर लहराया ।
पल भर रूकने वाले ! कह तू पथिक ! कहाँ से आया ?

प्रसंग – यह गीत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के दूसरे अंक में कोमा द्वारा गाया गया है । यौवन में प्रेम का महत्त्व प्रतिपादन करने के बाद, यौवन और प्रेम को ही सम्बोधित करते हुए, भाव-मोहित स्वरों में कोमा गा रही है :

व्याख्या – हे यौवन ! तेरी छाया कितनी चंचल है अर्थात् जीवन में यौवन हमेशा नहीं बना रहता है । वह अस्थायी और क्षणिक होता है । यौवन क्योंकि क्षणिक है, अत: मैं चाहती हूँ कि थोड़ी देर रहने वाले इस यौवन का आनन्द जितना भी संभव हो सके, जी भर कर भोग लूँ । एक छलिया के समान पता ही न चल पाया कि मेरे जीवन में यह छलकता यौवन का क्षण कब और कैसे आ गया है । अर्थात् यौवन घोषणा करते हुए नहीं, बल्कि चुपचाप आकर ही तन-मन को लहरा, उसमें प्रेम-आनन्द का रस भर दिया करता है । अत: मुझे भी पता न चल सका कि मेरे शरीर रूपी प्याले में मस्त-मदिरा रूपी यौवन कब भर कर मुझे चंचल और आनन्दित कर गया । मैं तो अब यह अहसास कर रही हूँ कि मेरे तन-मन जीवन-रूपी वंशी के रोम-रोम से अब मधुर ..... के स्वरों के समान हो प्रेम-संगीत का स्वर गूँजने लगा है । थोड़ी ही देर रूकने वाले हे यौवन पथिक ! भला बता तो सही तू कब और किस ओर से आकर मेरे तन-मन की मादकता और प्रेम की मधुरिमा बन गया है ।

भाव यह है कि यौवन का आगमन एक मधुर अनुभूति बनकर तन-मन को आनन्द संगीत से भर देता है । पर यौवन का यह आनन्द क्षणिक ही होता है । उसे भोगना ही जीवन और यौवन की सम्पूर्ण सार्थकता है ।

विशेष – नाटककार ने यौवन को क्षणिक बताया है । यौवन को 'छली' कहकर उसका मानवीकरण भी कर दिया गया है ।

समूचा वर्णन रूपकात्मक है ।

गीत में माधुर्य, लालित्य और गेयता का तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है । शैली और भंगिमा, भाषा भी छायावादी-काव्य भाषा है । मानवीकरण की छायावादी प्रवृत्ति भी दर्शनीय है ।

4. अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुंघराली है ।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है ।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली ।
झुक चली चूमने बल्लरियों से लिपटी तरु की डाली ।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु-प्रणय-रोष भरा ।
वे हँसती हुई दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली हैं ।
भरने निकले हैं प्यार भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से ।
इस मधुर अँधेरी में अब तक क्या इनकी प्याली खाली है ।
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है ।
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगा ली है ।
वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने ।
सब झूम रहे अपने सुख में तू ने क्यों बाधा डाली है ।

प्रसंग –'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के द्वितीय खंड में यह गीत शकराज की नर्तकियों द्वारा गाया गया है । अपने राजदूत खिंगल के मुख से रामगुप्त द्वारा सन्धि-शर्तें मानने और ध्रुवस्वामिनी के जल्दी ही पहुँचने का समाचार पाकर शकराज प्रसन्नता से झूम उठता है । उसकी आज्ञा से राज-नर्तकियों शक-सामान्तों सहित उसे मदिरा पान कराती, नाचती हुई गा रही हैं :

व्याख्या – अस्ताचल पर एक सुन्दरी की बिखरी अलकों (केशों) के समान सन्ध्या का धुँधलका फैलने लगा है । उस रूपहली छाया और वातावरण में मोती की लालिमा के समान चमकने वाली मदिरा की धारा सामान्तों-शकराज के प्यालों में भर कर प्रवाहित होने लगी है । अस्त होते सूर्य की लाल किरणों के प्रभाव से लगता है कि आस-पास की पहाड़ियों ने भी अपनी झील रूपी प्यालियों में लाल-लाल मदिरा भर ली है । उस मदिरा के नशे के प्रभाव से झुकी वृक्षों की डालियाँ मानों अपने से लिपटी बेल-रूपी प्रेमिकाओं को झुक कर चूम लेना चाहती हैं ।

चारों तरफ फैल रही संध्या की लाली को देखकर लगता है प्रेम के मान से भरकर कोमल-कान्त हृदय वाली परियों का हृदय भी मदिरा की मस्ती के प्रभाव से पिघल कर बहने लगा है । उससे मधुर तरंगें मचलने लगी हैं । पेड़ों के कुंजों-झुरमुटों में प्रेमपूर्ण जोड़े भी अब हृदम-रूपी प्यालों में प्रेम-मदिरा भर कर पान करने के लिए बाहर निकल आए हैं । क्या इस मधुरतापूर्ण धुंधले वातावरण में भी इनकी जीवन-प्याली अभी तक खाली ही थी कि जिसे भरने के लिए आतुर होकर ये लोग बाहर निकल रहे हैं । अब लगता है सभी की प्यालियाँ मदिरा से भर गई हैं । उनमें रसिक पुरुषों ने फूलों के समान विकसित होकर अपने प्रेमोन्माद का रस घोलकर उसे और भी मादक सुगन्धित बना दिया है । यह देख सुन्दरियों ने भी प्रेमोन्माद से भर कर उन मदिरा के प्यालों को अपने लाल-लाल कोमल होठों से लगा लिया है । यह सब देख और अनुभव कर लगता है सारी पृथ्वी भी मस्त होकर झूमने लगी है । उसकी मस्ती से आकर्षित होकर जैसे आकाश भी उस (पृथ्वी) की ओर झुका आ रहा है । इस प्रकार जब सारी धरती, सारी पृथ्वी, सारे व्यक्ति मस्ती के आलम में झूम रहे हैं, उसमें बाधा पहुँचाने वाले तुम कौन आ गए हो ?

भाव यह है कि एक तो संध्या का वातावरण, उस पर नर्तकियों का नर्तन-गायन, फिर मद्यपान – सारा हो माहौल मंदिर बस्ती से झूमता हुआ प्रतीत होने लगा है ।

विशेष – गीत में वर्णित भाव-बिम्ब छायावादी गीत शैली के सर्वथा अनुरूप हैं । उनमें ध्वन्यात्मकता अधिक है । इस कारण समझने में कठिनाई भी होती है ।

संध्या के वातावरण और प्रकृति के समूचे वातावरण का मानवीकरण स्पष्ट है ।

'तूने क्यों बाधा डाली है' पद संकेतात्मक है और शायद कोमा के व्यवहार की ओर संकेत करने वाला है ।

गीत अपनी समग्रता में राजदरबारी विलास-वासनापूर्ण वातावरण के सर्वथा अनुरूप बन पड़ा है ।

29.3 अभ्यास के प्रश्न

1. निम्नलिखित अंशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :

   (क) हाँ मैंने देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल अरुण । आह ! राजचक्र सबको पीसता है, पीसने दो, हम निस्सहायों और दुर्बलों को पीसने दो ।

   (ख) मैं उपहार में देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूँ । मुझमें रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है, और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं करूँगी ।

हिन्दी नाटक और रंगमंच

पाठ संरचना

30.0 उद्देश्य
30.1 परिचय
30.2 हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन
30.3 अभ्यास के प्रश्न

30.0 उद्देश्य

आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का यह एक सर्वमान्य और ऐतिहासिक सत्य है कि पारसी व्यावसायिक थियेटर की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी में सुरूचिपूर्ण एवं गंभीर अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना हुई । इस इकाई का उद्देश्य हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन से पाठकों का परिचय कराना है ।

30.1 परिचय

यह उल्लेखनीय है कि बंगला, मराठी और कन्नड़ जैसी अपेक्षाकृत समृद्ध भारतीय भाषाओं का व्यावसायिक रंगमंच प्राय: हिन्दी भाषा नाटक और रंगमंच के समक्ष चुनौती और कुंठा का कारण बनता रहा है । आजादी के बाद निश्चय ही हमने हिन्दी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में एक नई और स्वस्थ शुरूआत की । हमने आधुनिक भारतीय रंग दृष्टि को उपलब्ध और विकसित करने के उद्देश्य से संस्कृत, मध्यकालीन एवं लोक नाट्य तथा पश्चिमी रंगमंच के सार्थक प्रासंगिक रंग तत्त्वों के रचनात्मक उपयोग से सृजन के प्रत्येक स्तर पर बहुरूपी एवं बहुरंगी नाट्य प्रयोग किए ।

30.2 हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन

हिन्दी नाटक और नाटककार की दृष्टि, लेखन और नाटकीय समझ में बहुत महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मोड़ आया है । अक्सर सहयोग, सहअस्तित्व, सामंजस्य, नाटक और विचार, नाटककार और रंगमंच, नाटककार और निर्देशक, नाटककार के अधिकार के सवाल टिप्पणियों में लेखों में उठते रहे हैं जिनसे हिन्दी नाटक जगत में सक्रिय आन्दोलन का परिचय तो मिलता ही है । एक लम्बे शून्य और जड़ स्थिति के बाद सारे भ्रमों को तोड़कर नाटक की मौलिकता भी प्रतिष्ठित होती है । आज से कुछ वर्ष पहले मोहन राकेश, ब० व० कारन्त और अनेक व्यक्तियों ने नाटक में सहयोग, सहअस्तित्व और सामंजस्य की बात कही थी और साहित्यिक विधा के रूप में उसके सही और पूर्ण रूप

को समझने-समझाने का प्रयत्न किया था । इधर पन्द्रह वर्षों से नाटककार ने स्वयं नाटक को पहचाना ही नही है, बल्कि नाट्य समीक्षा के प्रतिमान बदलने की भरपूर कोशिश की है । प्रायः कहा जाता है और सही भी है कि हिन्दी नाटक अभी बहुत पिछड़ा हुआ है । यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि सबसे पुरानी विद्या होते हुए भी जीवन और विचार से, नवीनता और प्रयोग से, अनेक समस्याओं से उसका संबंध उतना नहीं जुड़ पाया या उसमें इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए जितने कहानी में या कविता में । इसका मुख्य कारण है नाटक और शेष विधाओं के माध्यमों का प्रकृतिगत भेद । नाटक कोई 'पाठ्यपुस्तक' मात्र नहीं है जैसे कि कहानी और उपन्यास और उसकी तरह नाटक का सीधा संबंध पाठकों से होता है । बल्कि नाटक एक जीवान्त अनुभव है जो अपनी जीवन्तता रंगमंच पर ही प्राप्त करता है । नाटक की सही कसौटी रंगमंच ही है । रंगमंच को उसका निकष मानकर ही उसकी निजी सत्ता की खोज संभव है । नाट्यकृति और रंगमंच एक-दूसरे के कार्य और कारण हैं, दूसरे स्तर पर एक-दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक दूसरे के पर्याय भी । निस्संदेह रंगमंच की आत्मा नाटकीयता है तो नाटक की आत्मा रंगमंचीयता है । बहुत पहले भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक की इस मौलिकता और रंगमंच से उसके संबंध को स्थापित करते हुए ही कहा था कि नाटका का शरीर है वाचिक अभिनय क्योंकि आंगिक और सात्विक अभिनय तथा नेपथ्य आदि सब उसको ही व्यंजित करते हैं । भरत मुनि ने जहाँ नाट्यशास्त्र द्वारा नाटक को नियमबद्ध किया था वहाँ इसकी सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया पर सहयोगी कला रूप और रंगमंचीय कला रूप पर भी विचार किया था जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय नाटक और उसके रंगमंच की परंपरा एक लम्बा फासला तय कर चुकी थी जिसे भरत मुनि ने शास्त्रीय रूप प्रदान किया ।

हिन्दी नाटक के साथ नाटक के विधागत अन्तर को न समझने की भारी विडम्बना रही, नाटककार और समीक्षक दोनों की ओर से । ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वह पहले नाटककार हैं जिन्होंने नाटक की माध्यमगत, कालगत विशेषताओं को पूरी तरह समझा और इसी विधा को जन-संपर्क स्थापित करने की दृष्टि से भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रभावक रूप में जन-जागृति, राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना लाने की दृष्टि से सबसे सशक्त माध्यम समझा और व्यक्तिगत ही नहीं सामूहिक प्रयासों द्वारा हिन्दी रंगमंच और नाटक इतिहास में एक नयी परंपरा को आरंभ करना चाहा । उससे पहले हिन्दी क्षेत्र में लोकनाटकों या लोक-रंगमंच की परंपरा मौजूद थी लेकिन उसकी भी सीमाएँ थीं । रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग-आदि तेजी से बदलते जाते मूल्यों और उस पूरे युग से संबंधित नहीं थे, केवल मनोरंजन ही उनका लक्ष्य था । दूसरे ओर पारसी रंगमंच और नाट्य लेखन विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से ही सही बड़े दर्शक वर्ग को आकर्षित कर रहा था । उनके कुरूचिपूर्ण सस्ते लेखन और प्रस्तुतीकरण ने साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों के मन में वितृष्णा पैदा की - 'थियेटर' और 'नाटक' शब्द यहीं से एक भद्दी कल्पना और अधकचरी मानसिकता के साथ जुड़ गया - एक बदनाम और उपेक्षणीय वस्तु बन गया । नाटक जैसी साहित्यिक विधा के साथ कम्पनी का हल्का नाम जुड़ता गया और अभिनय और अभिनेताओं के साथ अप्रिय भाव पैदा होता गया । नाटक परदों, नाच-गानों, शेरो शायरी, अश्लील दृश्य और हल्के फुल्के मनोरंजन का केन्द्र बन गया; परिणामतः रंगमंच ने स्वयं अपना सारा व्यापक अर्थ खो दिया । लोगों की मनोभूमि में रंगमंच एक व्यापक अनुभूति के रूप में लगभग मर गया । नतीजा यह हुआ कि हिन्दी नाटककारों के मन में आरंभ से ही रंगमंच की दूरी बनी रही । उनका उद्देश्य ही मानो पारसी नाटकों और रंगमंच के विरोध में नाट्य रचना करना था - इसीलिए आरंभ का समूचा हिन्दी नाटक भारतेन्दु से प्रसाद तक पारसी रंगमंच और नाटकों की प्रतिक्रिया में जन्म लेता हुआ साफ प्रतीत होता है । इस प्रतिक्रियात्मक दृष्टि ने जहाँ नाटक को साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाया वहाँ रंगमंच से उसकी कलात्मक मौलिकता से उसे एकदम काट दिया ।

एक बड़ी दयनीय और खतरनाक स्थिति यहीं से पैदा हो गयी – नाटककारों में भी समीक्षकों में भी । नाटक दो खानों में बँट गया – साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक । यह हास्यापद वर्गीकरण वर्षों तक चलता रहा, चल रहा है आज भी, पाठ्यक्रमीय आलोचनात्मक पुस्तकों में, कक्षाओं में, अध्ययन अध्यापन में और परीक्षा-पत्रों और परीक्षा-पुस्तिकाओं में जो बड़ी घातक स्थिति है । नाटक और रंगमंच में संधिकालीन सोपानों का हिन्दी में क्रमशः विकास ही नहीं हुआ ।

भारतेन्दु काल को हिनदी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से सार्थक सक्रियता और प्रयत्न का काल कहा जा सकता है । स्वयं भारतेन्दु ने नाटक को परिचयात्मक स्तर पर ही नहीं, प्रयोगात्मक दृष्टि से भी देखा । उन्होंने ही पहली बार अपने निबन्ध 'नाटक' में प्राचीन नाट्यकला और अर्वाचीन नाट्यकला का परिचय दिया । दोनों के नाट्यतत्त्वों का समन्वय करके कोई मानदंड उन्होंने भले ही स्थापित नहीं किए क्योंकि उस समय बहुत से प्रश्न उनके सामने थे – हिन्दी नाट्य लेखन, अनुवाद, प्रदर्शन, प्रस्तुतिकरण, रंगमंच, नाट्यभाषा, जन-जागरण, राष्ट्रीय चेतना और लाकरूचि के परिष्कार का सवाल, पारसी थियेटर के विरूद्ध लड़ाई । इसीलिए भारतेन्दु ने नाटक पारसी थियेटर के नाट्यतत्त्वों की सीमा में उतने बँधे हुए नहीं दीखते, जितने कि प्रसाद के । भारतेन्दु निरन्तर थियेटराना जगत से अलग नहीं नाट्य परम्परा, भिन्न नाट्यशिल्प और हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र विकास परंपरा के प्रति संघर्षशील रहे । परिणामतः भारतेन्दु कालीन सभी नाटकों की दो विशेषताएँ मुख्य लगती हैं – एक तो जनजीवन से उनकी निकटता और देशोद्धार के प्रति उनकी चेतना, दूसरे उनकी रंगमंच के प्रति, नाटक के माध्यम से प्रति सजगता । इसीलिए इस युग में जहाँ एक ओर इतिहास और पुराण से कथावस्तु का चयन किया गया । इसीलिए उनमें अंधविश्वासों, कुरीतियों और धर्म के नाम पर होने वाले पाखंड और अनेक विडंबनाओं और व्यंग्य और विद्रोह का भाव भी मिलता है । जनजीवन में गहरी पैठ, तिलमिला देने वाले व्यंग्य ने और भारतेन्दु की सतर्क दृष्टि और संवेदनशीलता ने एक ऐसी नाट्य-भाषा को जन्म दिया जो बोलचाल की सरल, मुहावरों से सजी भाषा तो थी ही उनकी जिन्दादिली का प्रतीक भी थे, दर्शकों के मन से बल्कि 'लोकमानस' से सीधे टकराने वाली थी । आज हम हिन्दी नाटक में जिस सांकेतिकता का वैशिष्ट्य देखते हैं, वह इस काल के सभी नाटकों में अपने प्रायोगिक या आरम्भिक रूप में मिलती है । 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' जैसे नाटक सांकेतिकता के ही उदाहरण हैं । सामाजिक यथार्थ को सामने लाने के लिए मूर्त तथा अमूर्त कथाओं को नाटकीय रूप देकर सांकेतिक शैली की आवश्यकता का अनुभव और आरंभ भारतेन्दु से हुआ ।

भारतेन्दु के बाद नाटक के अध्ययन, रंगमंच की सीमाओं की जानकारी और उसके आग्रह की धारा लुप्त हो गयी जो आगे चलकर लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रेमी, सेठ आदि में भी नहीं मिलती । इन सभी ने अभिनेता और दर्शक की कल्पना किए बिना कोरे पाठ्य नाटक लिखे । नाटककार तर्कों, विचारों, वाद-विवाद के बौद्धिक जाल में फँस गया क्योंकि हिन्दी का अधिकांश नाट्य साहित्य प्रतिक्रिया में लिखा गया । सब भूल गए कि नाटक कोई कथात्मक वार्तालाप नहीं है, यद्यपि 'प्रसाद' के बाद हिन्दी नाटकों की कोशिश उपेन्द्रनाथ अश्क में दिखाई दी अगर उन्हें छोड़ दिया जाए तो करीब चालीस वर्ष की भयानक दूरी रंगमंच और नाटक के बीच दिखाई देती है । आज भी रंगमंच, व्यावसायिक या शौकिया संस्थाओं के प्रति वह दृष्टि नहीं पनपने पायी जो आवश्यक है । पारसी थियेटर से अगर उस समय रंगमंच की आवश्यकताओं को अनुभव किया गया होता, और अन्य बहुत से अव्यावसायिक नाटक दलों को प्रोत्साहन मिला होता तो हिन्दी भाषी क्षेत्र नाटक और रंगमंच क्षेत्र में इतना दरिद्र न रहा होता जबकि बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात में नाटक जीवन का एक अंग बन गया है । हमारे यहाँ एक स्थायी प्रश्न बन गया कि हिन्दी का रंगमंच क्या है ? कैसा है ? सही रंग-चेतना और नाट्यलेखन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही सामने आया । एक ओर 'नेशनल स्कूल

ऑफ ड्रामा', 'संगीत-नाटक अकादमी', 'दिशान्तर' जैसी संस्थाएँ दूसरे ओर अल्काजी और मोहन महर्षि जैसे निर्देशकों, मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा जैसे नए नाटककारों ने नाटक की मूल सत्ता की खोज की । अल्काजी ने हिन्दी रंगमंच को भारतीय गौरव दिया, मोहन राकेश ने नाटककार की खुली दृष्टि, सहयोग मनोवृत्ति और 'नाटक की मौलिकता की समझ' का परिचय दिया, ओम शिवपुरी जैसे अभिनेताओं ने अभिनय को कला और मर्यादा दी, लक्ष्मी नारायण लाल स्वयं निदेशक, अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता, समीक्षक बनकर रंगमंच की गतिविधियों के साथ रहे । 'आषाढ़ का एक दिन' वह पहला नाटक है जिससे रंगमंच की शक्ति और संभावनाओं को पहचाना एक पूरा दल तैयार किया - रंगकर्मियों का एक पूरा दल । हिन्दी के नए नाटक ने मोहन राकेश से आज तक विभिन्न रंग शैलियों, प्रयोग को लिया, और यह दृष्टि पैदा की कि एक ही नाटक पर भिन्न-भिन्न प्रयोग संभव है । विभिन्न भाषाओं - फ्रेंच, अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़ आदि से होनेवाले हिन्दी अनुवादों और उनकी प्रस्तुतियों ने भी नाटक के मूल रूप को समझने, उसके विशिष्ट कला रूप को पहचानने में बहुत सक्रिय योग दिया है - हिन्दी के मौलिक नाटककारों में इस समय मोहन राकेश के बाद लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, अमृत राय, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, गिरिराज किशोर, विपिन कुमार अग्रवाल, शंभूनाथ सिंह, लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपने नाटकों और पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाली नाट्य समीक्षाओं में एक दृष्टि पैदा की है, भयानक शून्य को भरा है और साहित्य रंगमंच के बीच की खाई को पाटा है - 'नटरंग' पत्रिका इस अर्थ में सदैव स्मरणीय रहेगी । नेमिचंद्र जैन की सम्पादकीय टिप्पणियों और आमंत्रित परिचर्चाओं में और इधर की कुछ नई समीक्षा पुस्तकों में यह तथ्य बार-बार सामने आया है कि शास्त्र, पूर्वग्रहों या तात्कालिक रूचियों के फ्रेम में नाटक को बैठना गलत है । हर नाटक के पीछे नाटककार की अपनी रंग-कल्पना होती है उसे खोजना समझना समीक्षक का दायित्व है । इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है नाटक की मूल प्रेरणा को अनुभव करना क्योंकि वही उसके रूपबन्ध और रंगबोध को बनाती है । नाटक पर विचार करते समय जितना जरूरी उसकी कथावस्तु, पात्र और भाषा पर सोचना है, उतना ही आवश्यक उसके रचना-नियमों, उसकी प्रदर्शन-क्षमताओं, उसकी सारी रचना-पद्धति को प्रभावित करने वाली रंगमंच की रूढ़ियों, प्रदर्शन के साधनों और शैलियों पर विचार करना है तभी नाटक की निजी सत्ता और उसकी जटिलता का अनुभव हो सकता है । जिस तरह भावपक्ष और कलापक्ष के खानों में बाँटकर न्याय नहीं किया जा सकता उसी तरह छह तत्त्वों - अर्थ, प्रकृतियों, सँधियों आदि शास्त्रीय वर्गों में बाँटकर उसके रंगमंच पक्ष को एकदम भुलाकर नाटक को पढ़ना-पढ़ाना, समझना एक सशक्त विद्या की हत्या करने जैसा है । रंगमंच नाटक अध्ययन का कोई एक प्रतिमान नहीं है जिसे अलग करके देखा जाए; समूचा नाटक उस संदर्भ में देखना होगा । इसीलिए कथानक, पात्र, भाषा को समझने की दृष्टि में ही परिवर्तन करना होगा ।

आधुनिक नाटकों को देखने पर एक बात और सामने आती है कि कथानक विशेष का होना न होना कोई अहम सवाल नहीं है । भुवनेश्वर के 'ऊसर' और 'ताँबे के कीड़े' कथाविहीन नाटक हैं लेकिन पात्र सारी स्थिति के सत्य के प्रेषक हैं । नाटक में कथा का कौतूहल नहीं दृश्यत्व की जिज्ञासा होनी चाहिए । आज के बहुत से नाटक 'बादशाह बेगम गुलाम' (गिरिराज किशोर) 'शायद हाँ (शोभना भूटानी) (मोहन राकेश) आदि का सौन्दर्य कथानक विशेष के होने में नहीं है - पात्रों की बातचीत, क्रियाओं में है जो नाटक को बनाते हैं । इसलिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण है पात्र और संवाद । पात्रों के सम्बन्ध में भी आज यह दृष्टि एकदम निरर्थक है कि हम उन्हें शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त, धीरललित धीरोद्धत आदि के खानों में बाँटकर उनकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता निर्धारित करें । नाटकीय पात्र हम जैसे मानव ही हैं उससे अलग या विशिष्ट नहीं । पात्र ऐतिहासिक भी हो सकते हैं, पौराणिक भी प्रतीक पात्र भी । लेकिन आज की कोई भी कृति खासतौर से नाटक जो आज के यथार्थ से, बौद्धिक प्रश्नों से और मनुष्य के सामने

फैले संकट से नहीं जूझती, बेकार है । इसीलिए आवश्यक है किसी भी ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र को उसके मूल अर्थ के साथ-साथ एक नए सन्दर्भ में रखना और उसके द्वारा आज की विडम्बना को उद्‌घाटित करना जैसे 'आषाढ़ का एक दिन', 'मि० अभिमन्यु' में आज की व्यवस्था षड्‌यंत्र के चक्रव्यूह में फँसे राजन की त्रासदी या 'पहला राजा' के वे प्रतीक पात्र के साथ अभिनेता जुड़ा हुआ है अतः पात्र कथानक का अंग होते हुए भी व्यक्तित्व से सम्पन्न होगा जिसमें उसका अन्तर्जगत् ही ज्यादा महत्त्व रखता है उसके कार्यकलाप नहीं । इसलिए पात्रों के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उन संवादों में होती है जो नाटक के सबसे अनिवार्य तत्त्व कहे जाएँगे । कथानक को गढ़ने और बुनने में उसके उलझाने-फैलाने में संवाद ही मुख्य होते हैं । संवादों से ही सभी पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का उनकी उलझनों, द्वन्द्वों मानसिक जटिलताओं का, विचाराओं और सोचने के ढंग का पूरा परिचय मिलता है । यही कारण है कि मल्लिका के संवादों में, भावुकता, तन्मयता है, सावित्री के संवादों में तीखापन - तेजी । हर पात्र के संवादों की गति, लय, उतार-चढ़ाव, टोन में बनावट में अन्तर होगा यद्यपि मूक नाटक भी कथानक और चरित्र को प्रकाशित करते हैं लेकिन वह एक 'सीमित' रूप है, उसे अगर छोड़ दें तो संवाद नाटक का अनिवार्य अंग है । मैं संवादों को इस अर्थ में ही नहीं लेता कि संवाद ही मन में होने वाले नाटक को एक बाह्य रूप, दृश्यरूप प्रदान करते हैं - करते हैं, सही है लेकिन नाटककार अपनी आवश्यकता और चिन्तन के आधार पर उन्हें लाता है, नहीं भी लाता, कभी-कभी नाटक के बीच में ऐसे शून्य मौन पल भी आ जाते हैं जो संवाद से अधिक मूल्यवान हो जाते हैं और वही गहरा प्रभाव छोड़ते हैं लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि वह प्रभावशीलता या सौंदर्य संवादों के बीच में आनेवाले मौन से ही आता है संवाद न हों तो वह शून्य क्रिया नहीं बन सकता । संवाद-रचना में ही नाटककार को गहरे अनुशासन से काम लेना पड़ता है । पहले जब नाटक में कथा-तत्त्व प्रधान होता था और नाटककार को भारतीय आदर्श जीवन-दर्शन, दार्शनिक विचार प्रस्तुत करते रहते थे तब संवाद ज्यादातर पात्रों के 'कथन', मात्र, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क के रूप में आते-जाते थे लेकिन अब जब घटना जाल क्रम और द्वन्द्वात्मकता, मानसिक गुत्थियाँ या चारों तरफ व्याप्त व्यक्ति का दोहरापन मुख्य हो गया है; संवाद-रचना भी एक कठिन काम हो गया है । यहीं नाटककार स्वयं एक चिंतक-समीक्षक बन जाता है और यहीं गहरे अनुभव की आवश्यकता होती है । संवाद की सारी सुन्दरता पात्र के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने में और उससे भी अधिक भाव-भंगिमाओं, अभिनय, गीत, अंग-संचालन सभी की संभावना लिए होने में है । संवादों के संक्षिप्त होने या लंबे होने से उतना अन्तर नहीं पड़ता जितना कि उसके पीछे व्यापक नाट्यानुभूति होने से । मोहन राकेश ने अपने नाटकों की संवाद-रचना से यह सिद्ध कर दिया है ।

यहीं एक प्रश्न उठता है भाषा का, क्योंकि संवाद-रचना में भाषा का सहयोग और समझ एक मांग है । कहानी-उपन्यास की भाषा की तुलना में नाटक में भाषा सर्वथा नए प्रयोग के साथ आती है । नाटक में भाषण शैली और घिसे-पिटे भाषा-प्रयोग, निरर्थक अलंकरण और आरोपित काव्यात्मकता अब झूठी लगने लगी है । वह भाषा 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में निभ गई लेकिन अब वह कृत्रिम ही नहीं होती - यानी कृत्रिम साहित्यिकता के घेरे में बँधी घुटी नहीं । चूँकि नाटक सीधे साक्षात्कार का माध्यम है, एक अनिश्चित बड़े समूह से नई-पुरानी पीढ़ियों से, विभिन्न रूचियों और पूर्वाग्रहों से उसे टकराना पड़ता है - यही नहीं नाटक अभिनेता, निर्देशक से होकर उस दर्शक वर्ग तक पहुँचता है जो अपने ही मूड में तात्कालिक प्रभावों को ग्रहण करता है । ऐसी स्थिति में नाट्यभाषा एक चुनौती है वह रंगमंच की भाषा है । यहाँ फिर समझौते की बातें आती हैं - न शुद्ध साहित्यिक संस्कृत-निष्ठ भाषा और न रोज की बोल-चाल की भाषा बल्कि एक लचीली और 'जीने की भाषा', हरकत की भाषा । यह सही है कि नाटक की भाषा कठिन उलझी हुई और अस्वाभाविक नहीं होगी पात्रों के अनुरूप होगी । अषाढ़ का एक दिन में न

आधे-अधूरे की चलती भाषा है न संस्कृतनिष्ठ कृत्रिम भाषा । नाटक भाषा को बनाता है, प्रचलित भाषा के अनुरूप अपने को ढालता नहीं । यही वजह है कि आज के नाटक की भाषा अनुभवों के साथ-साथ बहुत बदल गई है । नाटककार एक ऐसी भाषा के आविष्कार में संलग्न है जो न केवल औपचारिक हो, न एकदम रोजमर्रे की हो बल्कि जो आज के जटिल मानवीय संबधों को प्रकट करने की जीवन्त भाषा हो - सरल, एकदम स्पष्ट, परिचित और स्पष्ट सन्दर्भों वाली । सरल से सरल और परिचित शब्दों का भी नाटककार अपनी सर्जनात्मक दृष्टि से कलात्मक प्रयोग कर सकता है - वह साहित्यिक परम्परा से नहीं, रोजाना की परम्परा से सीधे सम्बन्ध स्थापित करता है तभी वह जरूरत से ज्यादा और सबके लिए कह पाएगा । मतलब, नाटक साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा के अलगाव को मिटाता है - मिटाने की अपेक्षा करता है । विपिन कुमार अग्रवाल ठीक ही कहते हैं, 'यदि सफल नाटक लिख गए तो साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा की दूरी कम हो जाएगी । बहुत से शब्द निरर्थक और प्राणहीन साबित कर पीछे डाल दिए जाएँगे, धीरे-धीरे साधारण शब्द नए अर्थ ग्रहण कर लेंगे और इनको आधार बनाकर एक नई साहित्यिक भाषा रूप ले लेगी ।' नाटक की भाषा में ताजगी हो, वह अपने संदर्भ में गूँजती हुई हो, भाषा और स्थिति में साम्य हो । आज के जीवन की विविध लयों को पकड़ने की शक्ति, समूची रंगानुभूति और अभिनय की सारी संभावनाएँ उसी में निहित हों इसीलिए नाटक में भाषा का सौन्दर्य लिखित से अधिक व्यंजनाओं में, टोन में, उतार-चढ़ाव में होता है । इसके लिए नाटककार बिम्बों, प्रतीकों, संकेतों से भी काम लेता है बशर्ते कि वह नाट्यभाषा को सहजग्राह्य और प्रभावपूर्ण बनाए । रंगबोध, सांकेतिकता और गहरी मानवीय संवेदना से जमी नाट्य-भाषा भुवनेश्वर के बाद हिन्दी नाटक-साहित्य में पहली बार मोहन राकेश में मिलती है । 'आधे-अधूरे' जीवन्त नाट्यभाषा का उदाहरण है । स्वयं राकेश ने नाट्यभाषा नाटकीय शब्द पर चिंतन मनन करके कुछ निष्कर्ष निकाले हैं । बेहतर होगा कि उनकी भाषा दृष्टि को समझकर ही उनके नाटकों में नाट्यभाषा के पहलू पर विचार किया जाए ।

चूँकि नाटक एक बड़े समूह के सामने घटित होता है इसीलिए निर्देशक की कल्पना, चिंतन और कला भी नाटक को बनाने या बिगाड़ने में कारण बन जाती है । रंगमंच का आवश्यक अंग निर्देशक है । पश्चिमी रंगमंच पर पहले निर्देशक नाम की कोई चीज नहीं थी, प्रोड्यूसर ही हुआ करता था पर धीरे-धीरे आधुनिक पश्चिमी रंगमंच के सम्पूर्ण विकास में निर्देशन महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन के विभिन्न तत्त्वों का निर्णायक वही होता है । साधारण कृति को भी नया अर्थ और कलात्मक रूप भी वह दे सकता है और असाधारण कृति को एकदम कुरुचिपूर्ण बना सकता है । एक नाटक में निहित अर्थों को नए संदर्भों में सामने लाकर वह उसे विशिष्ट ही नहीं बना देता, विवादास्पद भी बन सकता है और प्रतिक्रियाओं द्वारा सतर्कता, सचेतनता भी पैदा कर सकता है । मोहन महर्षि, सत्यदेव दुबे, अल्काजी, ब० व० कारन्त जैसे निर्देशक 'आषाढ़ का एक दिन', 'अंधायुग', 'चंद्रगुप्त' (प्रसाद) को वर्तमान से जोड़ कर नई रंग-शैलियों के द्वारा भिन्न-भिन्न सौन्दर्य देते रहे हैं । 'अंधेरे नगरी' पुरानी कृति है लेकिन सत्यव्रत सिन्हा जैसे निर्देशक ने उसे सर्वथा आधुनिक नाटक के रूप में प्रस्तुत करके सिद्ध किया कि नाटक ही ऐसी विधा है जो समय के साथ पुरानी या व्यर्थ नहीं हो जाती है अगर उसमें संभावनाएँ हैं, अगर वह किसी भी युग से सीधे टकराती है तो रंगमंच पर वह हमेशा नई हो सकती है । इस तरह अभिनय-शैलियाँ बनती हैं, रंग-शिल्प बदलता है, नई-नई रंग शैलियों का जन्म होता है । निर्देशक की कल्पना और उसके ज्ञान से एक ही नाट्यकृति प्रतीकात्मक शैली में भी हो सकती है, लोकनाट्य शैली में भी । नाटककार की सृष्टि को निर्देशक पुनः रचता है । पहले का रंगमंच नाटककार या प्रमुख अभिनेता या मंडली के संचालक के हाथ में रहता था । पिछले 10-15 वर्षों से हिन्दी रंगमंच पर निर्देशक का व्यक्तित्व स्थापित हुआ है । अभिनेताओं के पूरे समूह को अपनी कलात्मक यात्रा के साथ चलने में